चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 15 अंक 4 **अप्रैल-जून 2018**

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रयी हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

	सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1.	युवा, समाज और परिवर्तन *जगमोहन सिंह राजपूत*	7
2.	गुरुजी—सहज, साधारण परंतु श्रेष्ठ *पवन कुमार गुप्त*	16
3.	तकनीकी स्तर पर भाषा की चुनौतियाँ *ओम विकास*	20
4.	किरात देश की बौद्ध कला में अंतर्निहित, समान्वेषी धार्मिकतत्त्व *विनय कुमार राव*	27
5.	गुरु नानक का समाज-सुधारक रूप *मनमीत कौर*	49
6.	शशि थरूर के आरोप : एक समीक्षा *शंकर शरण*	54
7.	लोकतांत्रिक भारतीय लोकतंत्र में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने की प्रासंगिकता *अरविन्द प्रसाद गोंड*	62 62
8.	राष्ट्र, शिक्षा, राजनीतिः भारतीय परिप्रेक्ष्य *ब्रजेन्द्र पाण्डेय*	68
9.	रामायण का सत्य और महाभारत का धर्म *अम्बिकादत्त शर्मा*	84

10. प्रकृति के कैनवास पर निराला के शब्द चित्र 97
अन्नपूर्णा शुक्ला

11. कवि परम्परा-सिद्ध सामान्य-भाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा और ब्रजभाषा के पुण्य की पड़ताल 105
कृष्ण चन्द्र गोस्वामी 'विभास'

12. पुस्तक विमर्श 121
भाषा, मीडिया एवं समाज-संस्कृति का यथार्थ– हिन्दी बदलता परिवेश 121
अनिल कुमार पांडेय

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

हे ईश्वर! हमें इन नासमझ नेताओं से बचाओ!!

आज पाँच राज्यों मध्य प्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़, मिजोरम, एवं तेलंगाना के चुनाव के दौरान जिस स्तर की राजनीतिक बयानबाजी चल रही है वह भय पैदा करती है। लक्ष्मण रेखा तोड़ने के एक के बाद एक बढ़ते कदम, मूल्यों की ढलान पर लगातार फिसलते कदम। दुर्भाग्यवश, इसके साथ ही जुड़ी है एक राजनीतिक दल के फिसलन की कहानी; देश के सबसे पुराने राजनीतिक दल के फिसलन की; उस दल के जिसने आजादी की लड़ाई में अहम भूमिका निभायी थी।

फिसलन भरी बयानबाजी की इस प्रतियोगिता में एक से एक बड़े वाग्वीर प्रकट हो रहे हैं। वे लगातार प्रधानमंत्री, नरेन्द्र मोदी, को अपने वाग्वाणों का शिकार बना रहे हैं। अपशब्दों के प्रयोग की इस प्रतियोगिता में मणि शंकर अय्यर जैसे काँग्रेसी नेता प्रधानमंत्री मोदी को 'नीच' कह रहे हैं तो प्रधानमंत्री पद पाने के सपने देख रहे काँग्रेस अध्यक्ष राहुल गाँधी उन्हें 'चोर'। काँग्रेसी नेता राज बब्बर उनकी माता को विवादी बयानबाजी का शिकार बना रहे हैं तो कोई उनके स्वर्गीय पिता को। पाकिस्तान के अपने स्वागत से उत्साहित होकर लौटे, एक खालिस्तानी तथा पाकिस्तान के सेनाध्यक्ष और वहाँ के प्रधानमंत्री, इमरान खान, से मिलकर लौटे पंजाब के मंत्री, सुखबीर सिंह सिद्धू, प्रधानमंत्री को ही चोर नहीं बल्कि उनको कुत्ते को भी चोर बता रहे हैं। राजस्थान के चुनाव के अपने भाषण के दौरान वे नेता कम विदूषक अधिक लग रहे थे। स्पष्टतः काँग्रसी नेताओं की सारी गलतबयानी उनके अध्यक्ष की स्वीकृति के बिना नहीं हो रही थी, जैसा कि सुखबीर सिंह सिद्धू ने अपने तथा अपने मुख्यमंत्री, कैप्टेन अमरिन्दर सिंह के भी कप्तान राहुल गांधी की स्वीकृति की बात स्वीकारी भी। फिर श्री गाँधी का व्यवहार भी कोई अलग थोड़ी ही है। बात बड़ी साफ है कि भारतीय राजनीति की चोटी पर बैठे लोगों की समझ खतरनाक स्तर तक कम हुई है, जिससे हमारा वैचारिक/बौद्धिक प्रदूषण भयंकर स्तर तक पहुँच चुका है; समाज में अतिशय दोष-दर्शिता बढ़ी है। यह खतरा तब और बढ़ जाता है, जब नासमझ नेतृत्व चाटुकारों

से घिर जाता है और उसे गलत और सही का बोध करानेवाला नहीं रह जाता। ऐसे में हम ईश्वर से प्रार्थना ही कर सकते हैं कि हे ईश्वर! हमें ऐसे नासमझ नेताओं से बचाओ!!

— ब्रज बिहारी कुमार

युवा, समाज और परिवर्तन

जगमोहन सिंह राजपूत*

किसी भी देश और समाज की प्रगति का निर्धारण मुख्य रूप से वहाँ की ज्ञान सम्पदा तथा उसमें लगातार होने वाली संपुष्टि तथा वृद्धि की दर से ही होता है। उपनिवेशवादी के अन्त के पश्चात् प्रगति और विकास नव-स्वतंत्र देशों की हर योजना-परियोजना का मुख्य लक्ष्य बन गए। बीसवीं शताब्दी के मध्य से विकास और प्रगति की जो दौड़ प्रारम्भ हुई उसमें पश्चिम का प्रभाव छाया हुआ था और इसी कारण उसमें भौतिक सुख समृद्धि की ओर ही अधिक जोर दिया गया। प्रकृति-प्रदत्त संसाधनों का विवेकहीन दुरुपयोग करते हुए स्थानीय संस्कृति तथा ज्ञान सम्पदा का ध्यान न रखते हुए विकास के मार्ग का निर्धारण विकसित देशों की इच्छाओं के अनुरूप ही हुआ। वैसे उद्देश्य तो भूख, बीमारी, कुपोषण, अशिक्षा जैसी स्थितियों में सुधार का ही था और वह आवश्यक भी था। भारत में भी व्यवस्था तथा सोच पश्चिम की शिक्षा और तज्जनित श्रेष्ठता का प्रभाव हर तरफ दिखा। ब्रिटिश शासकों ने यह स्पष्ट पहचान लिया था कि भारत पर आधिपत्य बनाए रखने के लिए भारतीयों को उनकी विरासत, ज्ञान सम्पदा, तथा संस्कृति से दूर करना आवश्यक होगा। ऐसा उन्होंने अन्य देशों में भी सफलतापूर्वक किया। भारत की ही तरह अनेक देशों की शिक्षा व्यवस्थाएँ उनके औपनिवेशिक शासकों द्वारा लाकर थोपी गई थीं, जिनका प्रयोजन उस समय के शासन को नीचे दर्जे के कारकुन तैयार करना था। भारत की शिक्षा व्यवस्था इसी सोच की उपज थी। धीरे धीरे उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय ऊँचे प्रशासनिक पदों पर आए। उनमें से अधिकांश पश्चिमी संस्कृति से पूरी तरह प्रभावित थे।

इसी कारण जब शासक बदले, स्वतंत्रता आई, मगर शिक्षा व्यवस्था नहीं बदली। इसके अनेक अन्य कारण गिनाए जा सकते हैं। सबसे बड़ा तो यही था की जो वर्ग शिक्षा प्राप्त कर चुका था, जिसने अपना एक विशेष स्थान बना लिया, जो सामाजिक तथा आर्थिक रूप से अग्रणी बन चुका था, उसे यथास्थिति बनाए रखने में

* पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली

ही अपने वर्ग का लाभ दिखाई दिया। परिस्थितियाँ अत्यंत कठिन थीं, देश का विभाजन हो चुका था, सामाजिक और आर्थिक तौर पर हर तरफ उथल-पुथल हो रही थी, नए शासनतन्त्र की स्थापना, देशी रियासतों का विलय जैसे अनेक प्रश्न विकराल स्वरूप में देश के सामने खड़े थे। ऐसे में गहन नीतिगत परिवर्तन के लिए जिस उच्चस्तरीय वैचारिक विश्लेषण की आवश्यकता थी, वह संभव न हो पाया। पंक्ति के अंतिम छोर पर खड़े व्यक्ति के लिए आशा की एक ही किरण थी, शिक्षा, अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा, जो कौशल और हुनर भी सिखाती हो, व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाती हो, तथा जो उसके ''मष्तिस्क, हाथ और हृदय'' को सर्वश्रेष्ठ स्तर तक प्रकाशित कर सके। मोहनदास करमचंद गाँधी इसे जानते थे। उन्होंने 1909 में ही 'हिन्द स्वराज' में शिक्षा के महत्त्व को स्पष्ट किया था। उनकी व्यथा इन शब्दों में व्यक्त होती है– ''आपको समझना चाहिए कि अंग्रेजी शिक्षा लेकर हमने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी शिक्षा से दंभ, राग, जुल्म वगैरा बढ़े हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए लोगों ने प्रजा को ठगने में, उसे परेशान करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है—अब अगर हम अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए लोग उसके लिए कुछ करते हैं तो उसका हम पर जो कर्ज चढ़ा हुआ है उसका कुछ हिस्सा ही हम अदा कर रहे हैं।'' उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में ही समाधान भी सुझाए थे। इसके लिए उन्होंने ''बेसिक शिक्षा'' या ''बुनियादी तालीम'' की संकल्पना की, समय आने पर उसका सफल प्रयोग कर के उसकी उपयोगिता स्थापित की। यह सब 1947 में नए शासकों के संज्ञान में था, उनमें से अधिकांश यह भी जानते थे कि जो शिक्षा व्यवस्था विदेशी शासक हमारे यहाँ छोड़ कर गए हैं, उसकी जड़ें भारत में न होकर कहीं और थीं, उसे तो वहाँ से लाकर प्रयोजन-विशेष के लिए तोड़-मरोड़ कर भारत में रोपित कर दिया गया था। इसे समझाने के लिए अक्सर थामस बैबिंगटन मैकाले के 1835 के मिनट्स का संदर्भ दिया जाता है। 2 फरवरी 1835 के उनके ब्रिटिश संसद में दिए गए वक्तव्य को भी याद किया जाता है। इसमें कुल मिलाकर यही सोच प्रतिपादित की गई थी कि भारत की ज्ञानार्जन की परंपरागत पद्धतियों के स्थान पर वहाँ वह शिक्षा देनी होगी जो अंग्रेजी भाषा की सर्वश्रेष्ठता स्थापित करे, भारत के विश्व सभ्यता में योगदान को नगण्य करे तथा वे सोच और आचार-विचार में पूरी तरह पश्चिमी रंग में रँग जाएँ। यह नीति पूरी तरह सफल रही। भारत आज भी मैकाले की उस नीति से बाहर हो नहीं पाया है। हमने छोटे छोटे परिवर्तन भले ही किए हों, लेकिन आज भी यह प्रश्न हर विचारशील व्यक्ति के सामने उभरना चाहिए कि क्या भारत की शिक्षा व्यवस्था की जड़ें इस देश की मिटटी में गहराई तक गई हैं? यह प्रश्न केवल शिक्षा से जुड़े लोगों तक या स्कूलों और उच्य शिक्षा संस्थानों तक ही सीमित नहीं है, देश के हर नागरिक, विशेषकर युवाओं से, जुड़ा हुआ है। कोई भी मूलभूत नीतिगत परिवर्तन—वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो - तभी सार्थक होगा जब उसको अंतिम स्वरूप देने में समाज के सभी अंगों

की सक्रिय भागीदारी हो। इस समय, जब देश शिक्षा की नई नीति पर विचार-विमर्श कर रहा है, सार्थक परिवर्तन की संभावनाएँ बढ़ गई हैं। एक देशज शिक्षा व्यवस्था समाज में समता और समानता की ओर ले जाने के लिए पहली सीढ़ी है। राष्ट्र तथा समाज के प्रति निष्ठा, प्रतिबद्धता, तथा त्याग की भावना उत्पन्न करने में शिक्षा की समकक्षता कोई अन्य नहीं कर सकता है।

भारत इस समय बड़े परिवर्तन से गुजर रहा है। देश में आशा का नया संचार हुआ है। आशाजनक स्थिति के निर्मित होने के पीछे कई परिस्थितिजन्य तत्त्व उभर कर सामने आते हैं। समाज का हर वर्ग परिवर्तन से प्रभावित हुआ है। यह भी सभी जानते हैं कि परिवर्तन की गति इतनी तेज है कि जो इसे अंगीकार नहीं करेगा वह पीछे रह जाएगा। कोई भी अब अपने बच्चों को शिक्षा से दूर नहीं रखना चाहता है। यही नहीं, 21वीं शताब्दी में भारत में सभी माता-पिता अब बालकों को ही नहीं, बालिकाओं को भी अच्छी गुणवत्तावाली शिक्षा ''अच्छे'' स्कूल में ही दिलाना चाहते हैं और उसके लिए सब कुछ करने को तैयार हैं। प्रारम्भ में विकास की जिस पश्चिमी अवधारणा को भारत ने अपनाया था, उसके अनेक सकारात्मक तथा अपेक्षित परिणाम भी सामने आए हैं। मगर उसी के कारण कुछ भयावह स्थितियाँ भी उत्पन्न हो गई हैं। हवा जहरीली है, पानी प्रदूषित है, नदियाँ मर रही हैं, पशु पक्षियों की प्रजातियाँ समाप्त हो रही हैं, जलवायु परिवर्तन कभी भी विनाशकारी रूप धारण कर सकता हैं। आज की कार्यकारी पीढ़ी यह कतई नहीं कह सकती है कि वह आगे की पीढ़ी को एक सुन्दर, तथा स्वस्थ और शांतिपूर्ण विश्व प्रदान करने के अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कर रही है। देश के अनगिनत लोगों में श्रद्धा, दैवीय आदर, सम्मान तथा पूजा की पात्र रही गंगा तो पिछले तीन-चार दशकों में लगभग अपरिवर्तनीय प्रदूषित स्थिति में पहुँच गई है। देश में सैकड़ों नदियों का यही हाल है। यह कैसी विडम्बना है कि एक तरफ हम नदियों की पूजा करते हैं, और दूसरी ओर बिना हिचक उन्हें प्रदूषित करते रहते हैं। सिद्धांत और व्यावहारिकता के इस अन्तर को कम न करना भविष्य के लिए अनेक प्रकार से घातक सिद्ध हो रहा है।

कई हजार साल पहले भारतीय दर्शन ने आध्यात्मिकता के जिस स्तर को छुआ था, उसका लोहा सारे विश्व नें माना था। यहाँ मनुष्य और प्रकृति के बीच इतने प्रगाढ़ सम्बन्ध बने कि पशु, पक्षी, पेड़, पौधे, तक में देवत्व देखा गया। चूँकि मनुष्य सोच सकता था, विश्लेषण कर सकता था, आगे की संभावनाओं का अनुमान लगा सकता था, अतः उसने मानव और प्रकृति के बीच की संवेदनशीलता तथा पारस्परिक निर्भरता को जानने, समझने तथा बनाए रखने का उत्तरदायित्व स्वयं सम्हाला। प्रकृति के संसाधन शोषण तथा अनावश्यक संग्रहण के लिए नहीं बने थे। भारत नें अपरिग्रह का सिद्धांत न केवल प्रतिपादित किया वरन् उसे व्यावहारिकता में निष्ठापूर्वक उतारा। यज्ञ के लिए लकड़ी काटने के पहले उससे आज्ञा ली जाती थी, कई गुना और अधिक वृक्ष

लगाने और पालने का विश्वास दिलाया जाता था। इसमें जो पारस्परिकता, सम्मान तथा सोच निहित था वह मनुष्य को प्रकृति से संवेदनात्मक स्तर पर जोड़े रहता था। पारस्परिकता की यह डोर तब टूट गई जब अनेक अन्य सभ्यताओं ने यह मान लिया कि प्रकृति के संसाधन मनुष्य के भोग के लिए ही हैं, निर्बाध होकर उनका दोहन करो, इसके अन्तर्गत भौतिकवाद न केवल पनपा, वह सारे जगत में हावी हो गया। विलासिता, वैभव, संग्रहण ने प्रकृति पर घोर अत्याचार किए, पर्वत पिघलने लगे, नदियाँ रूठ गईं, प्राणदायिनी वायु में जहर घुल गया, छोटे छोटे मासूम बच्चे उसमें श्वांस लेने को मजबूर हो गए। वे पढ़े लिखे शिक्षित युवाओं से ही आशा और अपेक्षा कर सकते हैं कि वे कोई ऐसा समाधान निकालें जो उन्हें स्वच्छ हवा में श्वाँस लेने के नैसर्गिक अधिकार से वंचित न करे। समाधान का दर्शन और सोच भी भारत से ही आएगा! आज सारे विश्व में लगातार इन समस्याओं पर चर्चा होती है, पृथ्वी, जलवायु परिवर्तन, पर्यावरण प्रदूषण, इत्यादि के हर सम्मलेन में महात्मा गाँधी का एक वाक्य अनेक बार दोहराया जाता है : ''प्रकृति के पास हर व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति के लिए संसाधन उपलब्ध हैं, मगर किसी एक के भी लालच पूर्ति के लिए नहीं हैं।'' उनका एक अन्य कथन हर चिंतनशील व्यक्ति के मन-मष्तिष्क में उथलपुथल पैदा कर सही रास्ता दिखने की ताकत रखता है। जब विश्व मानवाधिकार का घोषणा पत्र का प्रारूप बन रहा था तब उस समय के यूनेस्को के महानिदेशक जूलियन हक्सले ने गाँधी जी की राय जाननी चाही थी। उनके पत्र के उत्तर में गाँधी जी नें छोटा सा पत्र लिखा और अपनी अनपढ़ परन्तु बुद्धिमान माँ के एक कथन का सन्दर्भ दिया : यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य करे, तो सभी को उनके अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जाएँगे! विश्व भर में मानवाधिकारों पर अनगिनत ग्रन्थ, प्रस्ताव, घोषणाएँ उपलब्ध हैं मगर क्या कोई भी अन्य ग्रन्थ उतनी गहराई तथा सम्पूर्णता से वह कह सकता है जो गाँधी जी के एक वाक्य ने कह दिया है। यह वाक्य हर युवक के मन मष्तिष्क में सदा बना रहना चाहिए। इस पर लगातार विचार-विमर्श भी होते रहना चाहिए। कठिन से कठिन परिस्थिति में यह रास्ता दिखा सकता है।

अपेक्षा तो यही है कि प्रत्येक कर्तव्यनिष्ठ शिक्षित युवक राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पहचानता है, समझता है। वह भारत की विविधताओं से परिचित होता है और जैसे जैसे वह इन में एकता के तत्त्व देखता है, वह इन पर गर्व करने लगता है, उसका इस विविधता में अपनत्व, गरिमा तथा महान परम्परा के उत्तराधिकारी होने का गर्व और गौरव सुदृढ़ होता जाता है। भारत में विभिन्न पंथों के माननेवाले हजारों सालों से एक साथ मिलकर रहते रहे है। इसे बाकी देशों के लोग एक आश्चर्य मानते हैं। यह भी सही है कि पांथिक सद्भाव तथा पारस्परिक आदर की अनुपस्थिति भी कहीं न कहीं बनी रही और एक समय इतनी बढ़ी कि इस देश का विभाजन हुआ, लाखों लोगों का जीवन नष्ट हुआ, कितनों को अपने पुश्तैनी स्थान को छोड़कर अन्य

अनजाने स्थान पर जाना पड़ा। इसे रोकने के भरसक प्रयास किए गए थे, उस इतिहास से हम सब परिचित हैं। यहाँ मैं केवल एक उद्धरण देना चाहूँगा जो यह दर्शाता है कि देश की एकता के लिए सामाजिक सद्भाव तथा पांथिक सौहार्द कितना आवश्यक है। 1923 में मौलाना आजाद ने यह स्पष्ट किया था कि आजादी की लड़ाई के लिए सबसे आवश्यक क्या है ''यदि आज कोई देवदूत स्वर्ग से नीचे आकर कुतुब मीनार से यह घोषणा करे कि भारत चौबीस घंटे के अन्दर आजादी हासिल कर सकता है, बशर्ते मैं हिंदी-मुस्लिम एकता की माँग छोड़ दूँ। मेरा तुरंत जवाब होगा। नहीं, मेरे मित्र, मैं स्वराज्य छोड़ने के लिए तैयार हूँ, हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं। क्योंकि यदि स्वराज्य देरी से आया तो यह हिन्दुस्तान का नुकसान होगा, किन्तु यदि हिन्दू-मुस्लिम-एकता विनष्ट हुई तो यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए विनाशकारी होगा।'' गाँधी जी के पांथिक एकता के प्रयास अपने आप में मील के पत्थर कहे जा सकते हैं। वे मानते थे : ''विभिन्न धर्म अलग अलग रास्ते हैं एक ही बिंदु पर पहुँचने के। क्या अंतर पड़ता है कि हम किस रास्ते से उस लक्ष्य तक पहुँचते हैं?'' वे इसके महत्त्व को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं : ''आज की जरूरत एक धर्म नहीं, बल्कि विभिन्न धर्मावलम्बियों की एक दूसरे के प्रति श्रद्धा एवं सहिष्णुता है। हम निष्प्राण बराबरी नहीं, विविधता में एकता चाहते हैं। सारे धर्मों की आत्मा एक है जो अलग अलग आवरणों से ढँकी है और ये आवरण अंतिम समय तक बने रहेंगे।'' सारे प्रयासों के बाद भी विनाशकारी स्थिति बनी, देश बँटा, उसके परिणाम कितने अप्रिय और अस्वीकार्य रहे! हर भारतवासी के सामने यह तो स्पष्ट होना ही चाहिए कि देश की आन्तरिक एकता के बिना उसकी प्रभुता अखंडता बनी नहीं रह सकती है। और सामाजिक समरसता तथा पांथिक सौहार्द के बिना देश की एकता सदा चिंताजनक स्थिति में ही रहेगी। ऐसे में विकास और प्रगति की गति प्रभावित होंगे ही। समाज में नए वर्गभेद उत्पन्न हो जाएँगे और पंक्ति के अन्तिम छोर पर खड़ा व्यक्ति प्रतीक्षा में ही रह जाएगा।

आज विश्व में 'कनेक्टिविटी' यानी दूरियों के बदलते मापदंड तथा संपर्क साधने के नए तरीके कितने ही नए प्रभाव हर तरफ डाल रहे हैं। बड़ी संख्या में लोग एक देश से दूसरे देश में जा रहे हैं, वहाँ बस रहे हैं। ऐसे समाज बन रहे हैं जहाँ विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों, परम्पराओं, तथा अन्य विविधताओं के लोगों को एक साथ रहना सीखना है। इसमें समय लगता है, एक दूसरे को समझने के कौशल का उपयोग करना पड़ता है। जो देश हजारों साल से एक धर्म, भाषा, संस्कृति, में ही रहने के आदी रहे हैं, वे आज असमंजस में हैं। दूसरी तरफ विकसित देशों, विशेषकर पश्चिम देशों, की नई आवश्यकताएँ सामने आ रही हैं। उनके समाज में वयोवृद्धों की संख्या बढ़ रही है और युवाओं की कम हो रही है। उन्हें शिक्षित और कौशल युक्त युवाओं की आवश्यकता है। भारत में आज 65 करोड़ से अधिक लोग 35 वर्ष से नीचे की आयु

के हैं। भारत विश्व का सबसे युवा देश है। पिछले पचास-साठ वर्षों में भारत के युवाओं नें अपनी प्रतिभा तथा कर्मठता का लोहा हर जगह मनवाया है। अमेरिका की अंतरिक्ष संस्था नासा तथा संचार तकनीकी में सिलिकन वैली में जो उच्चस्तरीय भारतीय प्रतिभा निखरी उसे देखकर विश्व ने उसका लोहा माना। एक बार फिर विदेश में जाकर भारत की संस्कृति, भाषा, विरासत तथा आध्यात्मिकता का प्रचार-प्रसार करने का इस समय अत्यंत सटीक अवसर हमारे सामने है। भारत की बढ़ती जनसंख्या की ओर दुनिया अब उस नजर से नहीं देख रही है जो आज से तीस-चालीस वर्ष पहले की स्थिति थी। वैसे इस नई स्थिति से अनेक उत्तरदायित्व भी उभरते हैं। हमारी शिक्षा व्यवस्था में गुणवत्ता की भारी कमी है और अधिकांश संस्थाओं की साख भी घट ही रही है। इस दिशा में आमूलचूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इस देश में शिक्षा की सार संकल्पना व्यक्ति के पूर्ण विकास की ही रही है। सारा विश्व स्वामी विवेकानंद के उस वाक्य को दोहराता है कि उस शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं है जो व्यक्ति का निर्माण—उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निखार—नहीं करती है, उसे 'मनुष्य' नहीं बनाती है, उसके चरित्र का निर्माण नहीं करती है। हम आज भी रोपित शिक्षा व्यवस्था में मामूली परिवर्तन कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। यहाँ पर यह आशय रंचमात्र भी नहीं है कि वर्तमान शिक्षा में सभी कुछ त्याज्य है। ज्ञान तो अन्ततः वैश्विक धरोहर ही माना जाता और उसका उपयोग भारतीय परम्परा में ''सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय'' किए जाने के लिए ही उसकी खोज की जाती है। वह कहीं से भी आए, देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप उसका विश्लेषण कर निर्णय लेना चाहिए। खेती करने के नए तरीके, नए बीज, रासायनिक खाद इत्यादि अन्य देशों के वैज्ञानिकों ने ईजाद किए, हमने उन्हें स्वीकार कर लिया, बिना तीक्ष्ण विवेचन किए कि अल्पकालीन उपज बृद्धि के अलावा जमीन को दीर्घकालीन अपूर्णनीय क्षति होगी। परिवर्तन तो कृषि क्षेत्र में होना ही था, जनसंख्या बढ़ रही थी, उत्पादन बढ़ाना ही था, परन्तु क्या इसका समाधान देशज अनुभव और ज्ञान में संभव नहीं था? परिवर्तन की प्रकृति का अध्ययन और उस पर शोध करनेवाले परिवर्तन की निरंतरता को स्वीकार करते हैं क्योंकि प्रगति और विकास के लिए ऐसा आवश्यक है और यह प्रकृति का नियम तो है ही। वे यह भी कहते हैं कि हर परिवर्तन प्रगति का द्योतक नहीं होता है। भारत के सामने समस्या यही है कि वैश्वीकरण की चमक-दमक में हम आज भी जो पश्चिम में नया है, उसी की और आकर्षित हो रहे हैं। इस प्रवाह को रोकने को आवश्यकता नहीं है, केवल, युवाओं से यह अनुरोध करना समीचीन होगा कि वे भारत के उन सबल पक्षों को जाने जिन के कारण भारत का सम्मान सारे विश्व में हुआ। सभ्यताओं के विकास में और कहाँ उच्चतम स्तर का चिंतन प्रदर्शित होता है :

अयम निजः परोवेति गणना घुचेत्साम्
उदारचरितानाम तु वसुधैव कुटुम्बकम्

वह था हमारा दर्शन, हमारी आध्यात्मिकता की समझ, वसुधैव कुटुम्बकम् के स्तर का सोच, और उससे जनित हर विविधता की स्वीकार्यता! यही सोच व्यावहारिक रूप में त्याग और सेवा के आदर्श बने। कोई भी व्यक्ति इस स्तर तक अपना सोच तभी ले जा सकता है जब वह आत्मविश्वास से परिपूर्ण हो। यदि सभी में ईश्वर है, सभी अपने हैं अतः विश्वास के योग्य हैं! आत्मविश्वास अद्‌भुत शक्ति प्रदान करता है, जीवन के कठिन से कठिन क्षणों में यही व्यक्ति को अपने अंतःकरण में झाँककर पुनः प्रयास करने की प्रेरणा देता है। हर कर्मठ तथा सृजनशील व्यक्ति को जीवन में अनेक बार इस पर निर्भर होकर अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता मिलती है। लेकिन आत्मविश्वास तभी आएगा जब व्यक्ति यह पूरी तरह स्वीकार कर सके कि वह अद्‌भुत प्रतिभा का धनी है। स्वामी विवेकानन्द ने इसे संक्षेप में बहुत ही सरलता से कहा है : 'तुम अपने को महान समझो और तुम सचमुच महान हो जाओगे'! उनका कथन ही नहीं, उनका सारा जीवन युवकों के लिए सदा आदर्श बना रहेगा। वे कह गए हैं कि : ''सारे दोषपूर्ण कार्यों की मूल प्रेरक दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही व्यक्ति सभी स्वार्थों में प्रवृत्त होता है। इस दुर्बलता का स्रोत क्या है? इसे ढूँढ़ने का प्रयास करना चाहिए। सफल वही होगा जो हर असफलता को आगे आनेवाली सफलता की सीढ़ी मानने का विश्वास अपने में समा सकता है। सामान्य परिस्थितियों में तो सभी कार्य कर लेते हैं, उनकी अन्तःशक्ति का परीक्षण तो विषम परिस्थितिओं में ही होता है। गीता में भी इसी दर्शन की अत्यंत बोधगम्य ढंग से समझाया गया है। गीता युवाओं के समक्ष एक सफलता का सूत्र अनकहे ही देता है : जिज्ञासा को कभी दबाइए नहीं, प्रश्न पूछने में कोताही न करें, जहाँ भी, जब भी, लगे की अधिक ज्ञान, अनुभव में श्रेष्ठ व्यक्ति से संपर्क हो सकता है, उस तक अवश्य पहुँचे।

आज की शिक्षा प्रणाली केवल बौद्धिक विकास को सर्वोपरि या सम्पूर्ण मानने लगी है। यहीं पर हमें ऊपर उठाए प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। जो सुसंस्कृत नहीं है उसे शिक्षित कहना ही व्यर्थ है। जिसका नैतिक विकास नहीं हुआ है, वह समाज में अपने पर तथा औरों पर विश्वास करने की क्षमता पा ही नहीं सकेगा। जो यह नहीं समझेगा कि वह पूर्ण का अंश है, दूसरों से पृथक् नहीं है, वह दूसरों को सदा अपने से अलग ही मानेगा। ऐसा व्यक्ति हर समय अपने कुछ गुणों (?) पर गर्व करने लगता है और दूसरों में सदा अवगुण ही ढूँढ़ता रहता है। उसका अहं ही सबसे बड़ा शत्रु बनकर उभरता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि यदि व्यक्ति के बढ़ने और बड़े होने की प्रक्रिया में कुछ कमियाँ रह गई हो, तब भी निराश न होकर उसे स्वाध्याय का सहारा लेना चाहिए। यहाँ पर ''गुरु'' की मूल संकल्पना को ठीक से आत्मसात करने की आवश्यकता होती है। हर व्यक्ति अपने आदर्श-आइकान को ढूँढ़ता है और उनका अनुसरण करता है। अपनी पहुँच की परिधि में सदा अपने से अधिक ज्ञानी, अनुभवी तथा मानवीय मूल्यों को व्यावहारिक रूप में माननेवाला व्यक्ति हर कोई ढूँढ़ सकता है।

उसके साथ बैठकर चिंतन करने से लाभ अवश्य होता है। संस्कारों पर आस्था बढ़ती है और श्रद्धा की महत्ता भी समझ में आने लगती है। सत्संग सदा ही लाभदायी होता है। उसमें प्रयासपूर्वक भाग लेने से अनेक सुसंस्कार पुनः जीवित और जाग्रत हो जाते हैं तथा सही मार्ग दिखाने में प्रकाश की किरण बन जाते हैं। इस सब के उद्देश्य में निहित है नैतिक और आध्यात्मिक विकास। यही व्यक्ति को अभय प्रदान करता है। यह तीनों व्यक्ति तो कितना ऊँचा उठा देते हैं, इसे समझाने के लिए स्वामी विवेकानन्द द्वारा बताया गया सिकंदर महान से जुड़ा एक प्रकरण याद करना रुचिकर रहेगा : ''सम्राट संन्यासी के अपूर्व ज्ञान से विस्मित होकर उसको धन और मान का लोभ दिखाकर यूनान आने का निमंत्रण देता है। संन्यासी उसके स्वर्ण पर मुस्कुराते हैं, उसके प्रलोभन पर मुस्कुराते हैं और जाने से मना कर देते हैं। तब सम्राट अपने अधिकार बल से कहता है ''नहीं चलने पर मैं आप को मार डालूँगा।'' यह सुनकर संन्यासी खिलखिलाकर हँसे, बोले : ''तुमने इस समय जैसा झूठ कहा, वैसा जीवन में कभी नहीं कहा। मुझको कौन मार सकता है? जड़ जगत के सम्राट, तुम मुझे मारोगे? कदापि नहीं, मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, अजर और अक्षय हूँ! मेरा कभी जन्म नहीं हुआ और न कभी मृत्यु हो सकती है। मैं अनन्त, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हूँ। तुम मुझे मारोगे? निरे बच्चे हो तुम।'' इस वार्तालाप की समझ उसे सहज ही हो जाएगी जिसने मष्तिस्क, हाथ और हृदय की संवित शिक्षा ग्रहण की होगी। जिसे ऐसा अवसर नहीं मिला हो, उसे किसी अन्य से थोड़ी सी सहायता से सही दिशा मिल सकती है। बाकी प्रयास स्वयं करना होगा। आतंरिक शक्ति, आत्मा विश्वास तथा अभय मनुष्य को देवत्व-तुल्य आभा प्रदान करते हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्धि कवि रॉबर्ट ब्राउनिंग की एक कविता का आशय यह है कि ''आँख के आँसू सुखाकर अपने गिरने पर मुस्कुरा और विस्मित हो, उठ, पुनः शुरुआत कर''! कन्फुशिअस का प्रसिद्ध कथन है : ''हमारी सबसे बड़ी महिमा कभी न गिरने में नहीं है बल्कि गिरने के बाद फिर उठ खड़े होने में है'' आज भी कितना प्रेरणादायक हो सकता है। गुरुदेव टैगोर की कालजयी रचना 'एकला चलो रे' सदा ही प्रेरणा स्रोत बनी रहेगी। गौतम बुद्ध ने कहा कि अपना दीपक स्वयं बनो। गीता ने समझाया—''मनुष्य अपने स्वयं का ही मित्र है और स्वयं का ही शत्रु है।'' मनुष्य यदि नैतिकता का पथ अपनाता है, नया ज्ञान तथा कौशल प्राप्त करने में प्रमाद नहीं करता है, विनम्रता को आभूषण मानता है, तथा सदाचरण का मार्ग कभी छोड़ता नहीं है तो उसे आध्यात्मिकता पर बड़े बड़े ग्रंथों का पारायण करने की आवश्यकता नहीं है। वह अपना सामान्य जीवन जिए, अपने कर्तव्यों का पालन करे, तथा हर उपलब्धि के बाद अपने अहम पर नियंत्रण रख सके तो उसका जीवन सफल माना जाएगा। जीवनपर्यन्त सीखते रहने का अभिप्राय समझाने वाला व्यक्ति अनुभव और नए ज्ञान के आधार पर अपने विचारों, कार्यकलापों तथा दृष्टिकोण में सकारात्मक परिवर्तन के लिए सदा तैयार रहता है। गाँधी जी ने 19 अप्रैल 1933 को ''हरिजन''

अखबार में लिखा कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ मगर मेरे अंतःकरण में ऐसा कोई सोच नहीं है कि मैंने विकसित होना – ग्रोइंग अप–बंद कर दिया है। उनका लक्ष्य सत्य की खोज था और वही सर्वोपरि था। "उस रास्ते पर चलते हुए मैंने अनेक पहले के विचारों को त्यागा है और नया सीखा है।" उन्होंने यह भी लिखा की यदि मेरे पहले के और बाद के विचारों में कोई विरोधाभास मिले तो बादवाले को ही सही मानना चाहिए सृष्टि की संरचना में प्रत्येक को लेना भी होता है, देना भी होता है। बड़े स्तर पर सोचें तो मनुष्य और प्रकृति के बीच यह आदान-प्रदान ही संतुलन बनाता है। जब इसमें व्यवधान उत्पन्न होता है तब असंतुलन हर तरफ दिखाई देने लगते हैं। इसे सही परिमाण में बनाए रखने के लिए विचारों तथा तज्जनित कार्यकलापों में गतिशीलता बनाए रखने का उत्तरदायित्व मानव जाति का ही है। अतः उसे हर पल सजग और सचेत रहना है। प्रकृति, समाज तथा परिवार से लेते ही रहा जाए, देने के कर्तव्य का पालन न किया जाए तो बिगड़ा हुआ सन्तुलन किसी को बक्शेगा नहीं। यह तथ्य अब सर्वविदित है कि स्वार्थी, या नासमझ, लोगों ने हर समाज में अधिकांश लोगों को शिक्षा और ज्ञान से हजारों साल वन्चित रखा। इस कृत्य के परिणामस्वरूप एक बड़े वर्ग को वह अवसर ही नहीं मिला जहाँ वे सोच समझ का दायरा बढ़ा सकते, ज्ञान भण्डार से निकले प्रकाश की ऊष्मा का आनंद ले सकते! 21वीं शताब्दी में जिन्हें शिक्षा प्राप्त करने का, अपने को सुसंस्कृत करने का तथा जीवन पर्यन्त सीखते रहने का अवसर मिला है, उनका यह कर्त्तव्य बनता है कि जो अभी भी इस परिधि से बाहर हैं, उन्हें साथ में लाया जाए। लक्ष्य स्पष्ट हो, रास्ता तय हो, तब मष्तिस्क की प्रौढ़ता ही आध्यात्मिकता का व्यावहारिक स्वरूप बन जाती है।

सार्थक, सर्जनात्मक और संतोषप्रद जीवन की ओर अग्रसर होने के लिए उन मनीषियों के पदचिह्नों पर चलने का है जिनका सोच समय तथा काल के अनुरूप होकर आगे बढ़ने की राह उजागर करता है। सभी ऐसे चिन्तकों, दार्शनिकों तथा महापुरुषों से परिचित हैं, उनके विचार जानते हैं। उनके विचारों का अनुशीलन सदा ही पीढ़ितों को राह दिखाता रहा है। अठारह साल के युवा को गीता पढ़ने के स्थान पर फुटबाल खेलना चाहिए, यदि पास पड़ोस में कोई संक्रामक रोग फैला हो, लोग मर रहे हों तो उस समय सारी पूजा अर्चना को छोड़कर मानव सेवा में लग जाना ही सबसे बड़ी पूजा, सबसे बड़ा धरम है, सबसे बड़ी सेवा है। इस मार्ग पर चल कर उसे अन्य के लिए प्रशस्त करने का साहस करानेवाले महापुरुष हमें राम दिखा गए हैं। उसे पहचानना है, अंगीकार करना है। ऐसा कहने का साहस करनेवाला अंतःकरण से मानेगा कि ''परहित सरिस धरम नहीं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई!'' यही कर्तव्य बोध है, यही कर्म योग है, यही राष्ट्र सेवा है और यही सार्थक जीवन जीने का मन्त्र है।

गुरुजी—सहज, साधारण परंतु श्रेष्ठ

पवन कुमार गुप्त*

देश की एक बड़ी विभूति बुद्ध पूर्णिमा के दिन हमारे बीच से चली गई। तेलंगाना के आदिलाबाद में रहने वाले, रवीन्द्र शर्मा जिन्हें बहुत से लोग 'गुरुजी' कह कर संबोधित करते थे तीन वर्ष से कैंसर से पीड़ित थे। पिछले एक-डेढ़ वर्षों से धर्मशाला के बड़े तिब्बती डाक्टर उनका इलाज कर रहे थे। साथ में शिमोगा (कर्नाटक) के प्रसिद्ध वैद्य जी का इलाज भी चल रहा था। पर शुरुआत में अंग्रेजी इलाज चला था और आयुर्वेद के इलाज का जब निर्णय लिया गया तब तक रोग काफी बढ़ चुका था। उनकी उम्र इस समय 65 वर्ष की थी।

गुरुजी के बारे में सबसे पहले करीब 25 वर्ष पहले धरमपाल जी से सुना। धरमपाल जी गुरुजी के 'कला आश्रम' गए होंगे और वहाँ उन्होंने किसी समुदाय के लोगों से उनका जाति पुराण सुना था जिसमें वे अपने को राजा नहुष की संतान बता रहे थे। संभवतः धरमपाल जी को रवीन्द्र शर्मा जी से ही पहली बार विभिन्न जातियों के जाति पुराणों के बारे में पता चला। वे बहुत उत्साहित हुए थे और चाहते थे जाति पुराणों पर बड़े स्तर पर शोध हो। ग्रीस के मिथकों पर हमारे यहाँ भी काम होता रहा है, इन पर क्यों न हो? वे अक्सर गुरुजी और उनके काम का जिक्र किया करते थे। इसके कुछ वर्ष बाद ही मेरी गुरुजी से मध्यप्रदेश की किसी साइंस कांग्रेस में मुलाकात हुई और जल्द ही घनिष्ठ संबंध बन गया। सहज स्वभाव, उनकी आत्मीयता, मेरे जैसे अनेकों को गहरे में छूए बिना नहीं रहती थी।

अध्यात्म के क्षेत्र से एक अरसे से संबंध रहा है। कभी विप्पस्सना, कभी मध्यस्थ दर्शन (जीवन विद्या), कृष्णमूर्ति, इनमें गहरे तक जाने का प्रयास पिछले लगभग 35 वर्षों से चलते रहा है। कुछ समझ भी बनी, लाभ भी मिले। पर अगर यह कहूँ कि उन लोगों से मुझे इन बातों की अधिक समझ बनी, जो सीधे-सीधे इस क्षेत्र

* श्री पवन कुमार गुप्त, निदेशक—हिमालय के एकीकृत विकास संस्था, हैजलवुड, लैडोर कैंट, मसूरी-248179, दूहरादून, उत्तराखंड, भारत, मो. 09760049414

में दखल नहीं रखते थे, किसी प्रकार का कोई दावा भी नहीं करते थे, तो ज्यादती नहीं होगी। और इसमें सबसे पहला नाम 'गुरुजी' रवीन्द्र शर्मा और दूसरा धरमपाल जी का आएगा। इन दोनों में ही न कोई आग्रह, न कोई संकल्प की कोई बात थी, न ही दिखावा या अहंकार (झूठा विद्वता का प्रदर्शन) था। सिर्फ 'सहज' और 'साधारण'। इन दो शब्दों और उसके गहरे अर्थों को ढूँढ़ने में बहुत कुछ मिला और यात्रा अभी भी जारी है—समझने की और विभिन्न अर्थों के बीच जोड़ बैठाने की। अर्थ गहरे हैं और बहुत-सी अन्य समझ और अर्थों से गुत्थम-गुत्था।

शब्द अपनी जगह होते हैं और उनके अर्थों को पी जाने के बाद (अनुभव) उनका व्यवहार में उतरना अलग और सबसे जरूरी बात हुआ करती है। गुरुजी के व्यवहार में यह दीखता था—निरंतर। गुरुजी शास्त्रों और दर्शन की बातें बहुत कम किया करते थे। वे तो साधारण लोगों की बातें किया करते थे और वह भी जो उन्होंने अपने आदिलाबाद के छोटे से इलाके में अपने जीवन काल में सुना और देखा था, उसके आधार पर। लोक ज्ञान, लोक परम्पराओं की, व्यवस्थाओं की, हुनर, कारीगरी और कलाओं की, जीवंत समाज की बातें, वे सहज ढंग से किया करते थे—बस। पर इसमें कुछ छूटता कहाँ था, कुछ भी तो नहीं। जीवन के प्रायः समस्त आयाम तो उनकी बातों में सहज ही आ ही जाते थे। उनके साथ रहकर अध्यात्म और सामान्य जीवन का भेद समाप्त होने लगता था, दोनों एक दूसरे से अटूट संबंध में जुड़े हुए। अंदर और बाहर का भेद समाप्त प्रायः होने लगता। और यही तो होना चाहिए?

उनकी बातें सुनकर, प्रश्न और कल्पना दोनों, अपने अंदर होने लगती...क्या यह ऐसा देश था हमारा, यहाँ के समाज ऐसे थे, अभी हाल तक? कुछ धुँधली-सी यादें भी ताजा होने लगती थीं। इसीलिए उन्हें कुछ लोग 'स्मृति जागरण का हरकारा' कहने लगे थे। यही तो करते थे गुरुजी, जांबवन्त की तरह। धरमपाल जी इशारा करते थे, सामाजिक व्यवस्थाओं की गाँधी जी के 'हिन्द स्वराज' और अन्य भाषणों और लिखे हुए में, झलक मिलती थी, पर जब गुरुजी का देखा हुआ सुनते थे और जब वह चीजों को जोड़कर दिखाते थे, तो गाँधी और धरमपाल दोनों की बातें जुड़ने लगती थीं और अधिक सार-गर्भित नजर आने लगतीं। दर्शन को कैसे हमारे लोगों ने सामान्य जन के व्यवहार में उतारा होगा? व्यवस्थाओं के जरिए? 'कम हो तो कमी महसूस न हो, ज्यादा हो तो दिखे नहीं? व्यावहारिक और दार्शनिक पक्ष दोनों आपस में बैठने लगते थे और बीच की कड़ी-व्यवस्था की सुंदरता और अनिवार्यता दोनों समझ आने लगती थी। गर्व भी और पीड़ा भी (यह सब खो जाने की पीड़ा) दोनों साथ-साथ, इसका एहसास गुरुजी के सान्निध्य में होना स्वाभाविक था।

गुरुजी कथाएँ सुनाते थे। जो देखा उसका बयान करते थे। पर उनकी खूबी थी कि उन्हें 'दिखता' था। हम जैसों को सामने होते हुए भी दिखाई नहीं पड़ता। आधुनिक शिक्षा ने जो अज्ञान (और साथ-साथ अहंकार) का पर्दा डाला है उसकी

अभी पड़ताल होना बाकी है। गुरुजी की देखने की क्षमता अद्‌भुत थी। जो दिखता था उसे अपनी अन्य बनी समझ से जोड़ते जाना, उस पर मनन करते रहना यह उनकी दूसरी बड़ी खूबी थी। पिछले दस-एक वर्षों में जाति को ज्ञाती कहने लगे थे गुरुजी। धीरे-धीरे उन्हें लगने लगा कि जाति, ज्ञाती का ही बिगड़ा हुआ अपभ्रंश है। हर जाति के लोग अपने अपने हुनर के और उससे सम्बन्धित सभी चीजों के ज्ञाता रहे हैं। कुम्हार सिर्फ मिट्टी का समान ही नहीं बनाता उसे मिट्टी के विभिन्न पक्षों का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। इसी प्रकार सुनार, लोहार, मूर्तिकार, चर्मकार, इत्यादि। वर्णों में जाति नहीं, बल्कि हर जाति में वर्ण होते थे, ऐसा उनका मानना था। और इसके आधार की, झलक उनकी बातों में आती थी। हर जाति के वैद्य, हर जाति के सयाने, विद्वान वर्ग और हर जाति की भूमिका हर संस्कार में। वे मानते थे कि हमारी अर्थ व्यवस्थाएँ व्यय प्रधान रही हैं, न कि आय या मुनाफे के लिए। इसमें हर एक के जीने के लिए व्यवस्था बनाई गई थी। धन और धान्य में फर्क करते हुए बताते थे कि गाँव में व्यापार नहीं होता था, गाँव के अंदर धन नहीं कमाया जाता था, उसके लिए गाँव से बाहर जाना होता था। एक दिन फोन पर गुरुजी ने गाँव की परिभाषा की, ''गाँव वह जहाँ सबके भोजन की सुरक्षा हो और सबके सम्मान की व्यवस्था होती हो।'' वे अपनी समझ के आधार पर सूत्र गढ़ते रहते थे और हम जैसे संभवतः 10-15 लोगों से उनको जाँचते थे। टेक्नॉलॉजी पर बहुत बात करते थे गुरुजी। उनका एक गजब का सूत्र था, ''छोटी टेक्नॉलॉजी को, समाज व्यवस्थित करता है और बड़ी टेक्नॉलॉजी समाज को, व्यवस्थित करती है।'' कहीं बड़ा कारखाना, बाँध, खदान स्थापित हो जाए तो लोगों को उसके हिसाब से अपना घर-बार, कारोबार बदलना पड़ता है! लोग उजड़ जाते हैं।

गुरुजी में शुरू से ही एक धुन और फक्कड़पन रहा। उनका नाम 'गुरुजी' जब वे अपनी तरुणाई में लाठी भाँजना सिखाते थे, उस समय पड़ा। फिर उन्हें किसी जमाने में कारीगरी का शौक हुआ, तो उन्होंने हर प्रकार की कारीगरी सीखी। और वह भी कारीगरों के घरों में रहकर। वहीं रहते हुए उनका ध्यान जातिगत व्यवस्थाओं पर गया। और फिर बात से बात बढ़ती गई होगी। घूमने का और 'कुछ भी देखने का' शौक हमेशा ही रहा उन्हें। वे कहते भी थे और बात में दम भी है कि ''जब 'कुछ भी' देखने निकलते हैं तो कुछ न कुछ दिख ही जाता है। जब कुछ 'खास' देखने निकलते हैं, तो या तो वो दिखेगा, तो ठीक, वरना और कुछ (दिखकर भी) नहीं दिखेगा।'' गुरुजी साइकिल उठाकर अपने इलाके में 'कुछ भी' देखने निकल पड़ते थे।

गुरुजी की सहजता, देखने की शक्ति, ठहराव, उनकी संवेदनशीलता, करुणा के साथ-साथ निर्लिप्तता का भाव—यह अनूठा संयोग था उनके अंदर। गुरुजी का रहन-सहन, उनका पहनावा अति सामान्य और साधारण हुआ करता था पर एक दिन किसी गोष्ठी में जब वह बात कर रहे थे तो अचानक ध्यान गया, उनकी अदायगी पर। उनका बोलने का तरीका, उनके हाव-भाव, उठने-बैठने का तरीका, धोती पहनने का

और सँभालने का तरीका, सब में एक इत्मीनान का भाव, एक सहजता, एक लय थी। यह सब ऊपर-ऊपर से ओढ़ा नहीं जा सकता। यह तो अंदर जब इत्मीनान आता है, एक प्रकार का अटूट विश्वास अपने में और ईश्वर में, तभी बाहर फलित होता है, घटित होता है। पर सच में उनसे ज्यादा 'सहज स्टाइलिश' मनुष्य मैंने अपने जीवन में नहीं देखा। वे सुंदर थे—हर तरह से। सुंदर चीजें बनाते थे, सुंदरता देखते थे, सौंदर्य दृष्टि के धनी थे और स्वयं भी सुंदर थे, अंदर से और बाहर से।

स्वर्गीय कमलेश जी का मैं बहुत सम्मान करता था। वे बड़े विद्वान थे। शुरुआती दिनों में डाक्टर लोहिया के सहयोगी रहे, समाजवादी रहे, जो लोग कविता समझते हैं, उनके मुताबिक वर्तमान समय में संभवतः हिन्दी के सबसे बड़े कवि। पर मैं तो उनकी विद्वत्ता का कायल था। दुनिया की कोई भी अच्छी किताब हो, उनको न सिर्फ उसके बारे में पूरी जानकारी होती थी बल्कि उसके लेखक की भी। लेखक के ऊपर कौन-कौन से विचारों का, व्यक्तियों का प्रभाव कब-कब रहा है, वो बता सकते थे। शायद 2013 में पहली बार मैंने उन्हे गुरुजी की बात को सुनने के लिए आमंत्रित किया। कार्यक्रम दिल्ली में था इसलिए वो आ भी गए। उसके बाद कमलेश जी इतने अभिभूत हो गए कि उन्होंने मुझसे कहा ''ये 2-3 घंटे मेरे जीवन का सबसे विलक्षण समय रहा है।'' जिन्होंने गुरुजी को खुले दिमाग से सुना उनके लिए अद्‌भुत ही रहा, उनकी कई मान्यताएँ टूटी होंगी, कई नई समझ बनी होंगी, कुछ चीजें आपस में जुड़ी होंगी, एक नई दृष्टि मिली होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

लेकिन अभी उनका समय नहीं आया है। हम अनेक प्रकार के, आधुनिक और गैर-आधुनिक भी, भ्रमों से घिरे हैं, 'विकास' और 'प्रगति' के मोह पाश में फँसे हैं। इनकी वजह से सामने होते हुए भी दिखता नहीं। जब लोग 'कुछ करने' की बात करते थे तो वो कहते थे ''पाप का घड़ा भर रहा, इसे रोकिए नहीं, जल्दी-जल्दी भर जाए तो फूटे। (फिर कुछ बात बन सकती है)। ज्यादा जोर देने पर बार-बार यही कहते थे कि ''बीज इकट्ठा करने का काम हो सकता है। बीज बचेंगे तो जब (अनुकूल) समय आएगा तो इन्हें फैलाया जा सकता है''। हम इसकी कोशिश कर सकते हैं।

तकनीकी स्तर पर भाषा की चुनौतियाँ

ओम विकास*

भाषा की विशद् व्याख्या न कर भारतीय भाषाओं और मुख्यतः हिन्दी के संदर्भ में अपनी बात रखूँगा। भाषा की समझ के लिए लिपि, शब्द और व्याकरण को समझना आवश्यक है। लिपि भेद कई हैं – रैखिक, जटिल, बाएँ से दाएँ, दाएँ से बाएँ, ऊपर से नीचे, वर्णात्मक, चित्रात्मक, ध्वन्यात्मक इत्यादि। शब्द समझने के लिए शब्दावली, कोश, और अर्थ समझने के लिए व्याकरण आवश्यक हैं। तकनीकी से तात्पर्य है वे साधन जो हाथ से लिखने के पर्याय सहायक बनें, बोलकर लिखाने में सक्षम हों, हाथ के लिखे को और प्रिंट को पढ़ सकें। इसके आगे जो लिखा या लिखाया या लिखा दिखाया है उसे समझकर हमारे काम आसान कर दे जैसे प्रिंट निकालना, अनुवाद करना, शब्द अथवा संकल्पना के आधार पर लेखों को खोज निकालना इत्यादि। कहने का तात्पर्य है कि तकनीकी बुद्धू न हो, मानव समान बुद्धि सम्पन्न हो। यहाँ तकनीकी से तात्पर्य है कंप्यूटर और सम्बन्धित उपकरणों से।

बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ हैं, भाषाविद् और तकनीकीविद् के बीच कुछ भागीदारी की भी जरूरत है। लेकिन इस भागेदारी में बड़ा असंतुलन प्रतीत होता है।

पहले हिन्दी भाषा के स्वरूप को समझ लें। हिन्दी को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—लोक भाषा हिन्दी (जन संवाद के लिए), राजभाषा हिन्दी (सरकारी कामकाज के लिए), तकनीकी भाषा हिन्दी (ज्ञान-विज्ञान के सम्प्रेषण के लिए)। अधिकतर आलाप साहित्यिक हिन्दी का होता है। साहित्येतर / तकनीकी हिन्दी के विकास के लिए पहल और प्रोत्साहन की नितांत आवश्यकता है। यदि साहित्यिक पक्ष को हाथ के अति सक्षम अंगुष्ठ समान मानें, तो साहित्येतर, प्रयोजनमूलक, तकनीकी पक्ष को चार अँगुलियों के बराबर मान सकते हैं। इस प्रकार साहित्यिक पक्ष 1/5 अर्थात् 20%

* प्रो. ओमप्रकाश, मुख्य सम्पादक, विज्ञान प्रकाश, पूर्व सीनियर निदेशक, मिनः ऑफ इलेक्ट्रॉनिक्स और आईटी, भारत सरकार और पूर्व सलाहकार (एस एंड टी), भारतीय दूतावास, टोक्यो।
dr.omvikas@gmail.com

बनता है, शेष 4/5 अर्थात् 80% साहित्येतर श्रेणी में जाएगा। कार्यक्रम इसी अनुपात में किए जाएँ तो हिन्दी। भारतीय भाषाओं की बहुत प्रगति होगी, अवसर-विषमता भी मिटेगी, समाज नवाचार सम्पन्न होगा। गाँव और कस्बों में हिन्दी का स्वरूप स्थानीय बोलियों से प्रभावित होता है, कचहरी में हिन्दी का स्वरूप उर्दू शब्द बहुल है, बड़े शहरों और अखबारों में हिन्दी का स्वरूप अंग्रेजी शब्द बहुल है, उच्च और सर्वोच्च न्यायालयों में केवल अंग्रेजी मान्य है, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अंग्रेजी में लिखे शोध को ही मान्यता मिलती है। हिन्दी अधिकारियों की हिन्दी का स्वरूप क्लिष्ट शब्द बहुल, अटपटे अनुवाद का है। सितंबर, 2017 के 'गर्भनाल' पत्रिका के संपादकीय में तीखा प्रश्न था कि हिन्दीसेवी कौन हैं? शायद वे लेखक, जो पुरस्कार के लिए सघन प्रयासशील रहते हैं और वे हिन्दी के मठ, जो अनुदान के लिए कोशिश करते रहते हैं।

उच्चतर तकनीकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। माध्यमिक शिक्षा प्रायः अंग्रेजी में है। बड़े शहरों में प्राथमिक शिक्षा का माध्यम प्रायः अंग्रेजी है। प्रवेश परीक्षाएँ प्रायः अंग्रेजी में होती हैं। हिन्दी विकल्प प्रश्न पत्र में अटपटे अनुवाद होते हैं। कैरियर बनाने की होड़ में अंग्रेजी के लिए मजबूरी में दौड़ना पड़ता है। लेकिन प्रायः निराशा हाथ लगती है। ऐसी शिक्षा और परीक्षा नीतियाँ 90% से अधिक जनता के लिए अनुकूल नहीं हैं। इससे अपोर्चुनिटी डिवाइड अर्थात् अवसर-विषमता बढ़ रही है। लोकतंत्र में सभी को समान अवसर मिलना चाहिए।

भारत सरकार ने 2010-2020 को नवाचार दशक घोषित किया गया था। आजकल सरकार नवाचार / इन्नोवेशन पर विशेष बल दे रही है। लेकिन रटन्ति विद्या से नवाचार की अपेक्षा व्यर्थ है। लोक भाषा हिन्दी में एक भी शोध पत्र मिल जाए तो लगता है दुर्लभ नागपुष्प खिल उठा जो तीन दशक के बाद खिलता है। न्यायालयों में हिन्दी से नफरत मालूम पड़ती है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में डॉक्टर मरीज को दवा अंग्रेजी में लिखता है (OD, BD से दिन में एक बार, दो बार समझ भी लें, लेकिन HS से रात को सोते समय दवा लेने का अंदाजा लगाना मुश्किल है। मरीज की दुविधा को सोच सकते हैं। अंग्रेजी में शिक्षा की यह देन है कि पढ़े-लिखे विशेषज्ञ सामान्य लोगों को अपनी बात समझा नहीं पाते। विडंबना!

लोकभाषा हिन्दी के सुगम प्रसार के लिए समावेशी दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है, बोलियों के शब्दों को मिलावें, दक्षिण की भाषाओं के शब्दों का भी यदाकदा यथोचित प्रयोग बढ़ावें। हिन्दी के लिए दिए जानेवाले पुरस्कारों में समावेशी दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इससे भोजपुरी, ब्रज, अवधी आदि को संविधान की आठवीं सूची में शामिल किए जाने की माँग नहीं होगी।

लेखक पाठक की भारतीय प्रकृति से जुड़े, अनुवाद/ज्ञानांतरण को पाठकोन्मुखी बनाकर सुबोध अनुसृजन करें। आधारभूत संकल्पनाओं (बेसिक कन्सेप्ट्स) की गहरी

समझ अपनी लोक भाषा में होती है, इंटरफेस के लिए अन्य भाषा की जरूरत हो सकती है।

तकनीकी स्तर पर भारतीय भाषाओं के लिए विगत दो दशकों में कई नई उपयोगी तकनीकी उपकरण और प्रणालियों का विकास हुआ। लेकिन तकनीकीविद् और हिन्दी भाषाविद् के बीच असंतुलन रहा प्रतीत होता है!

कंप्यूटर पर काम करने के लिए 1991 में INSCRIPT मानक (IS 13194 - 1991) बनाए अभी तक बहुत कम प्रचलन में है, स्टाफ सलेक्शन बोर्ड ने टाइपिस्ट के टेस्ट के लिए इसे 2013 में मान्यता दी। आश्चर्य है कि इतने वर्षों तक हिन्दी जगत को कोई शिकायत नहीं। यूनिकोड की परिकल्पना से पहले सभी भारतीय भाषाओं के लिए ISCII ध्वन्यात्मक कोड बनाया गया। अस्सी के दशक में UNICODE की परिकल्पना ग्लिफ/वर्ण-आकृति के आधार पर सभी विश्व भाषाओं के लिए की गई थी। वैश्वीकरण के संदर्भ में यूनिकोड को स्वीकारा गया। पहले UNICODE समर्थित सौ से अधिक फॉन्ट बने, ओ सी आर (प्रिंट एवं हस्तलिखित वर्ण/अक्षर पहचान प्रणाली), पांडुलिपि/पुस्तक डिजिटलीकरण, कंटेन्ट प्रबंधन, पार्जर, मशीन अनुवाद प्रणालियाँ, टेक्स्ट टू स्पीच, स्पीच टू टेक्स्ट, स्पीच टू स्पीच अनुवाद, फॉन्ट परिवर्तक, वर्ड-नेट, समांतर कोर्पोरा, वेब ब्राउजर, आदि कई सॉफ्टवेयर सरकारी अनुदान से बने। 2015 में डोमेन नेम ''(डॉट) भारत'' भी बनाया गया। लेकिन इनका अधिकाधिक प्रयोग नहीं हो सका और तदनुसार फीडबैक नहीं मिल सका। आज भी पब्लिशिंग सॉफ्टवेयर में हिन्दी का यूनीकोड फॉन्ट मान्य नहीं है। कभी-कभार पुराने परिचित मित्रों ने मुझे भाषण के लिए बुलाया, सुझावों के दृष्टिपोषण के कड़वे प्राक्कथन के बाद बात रखी, लेकिन शायद उन सुझावों के कार्यान्वयन के लिए सम्बन्धित मंत्रालयों, विभागों को नहीं लिखा गया, न कोई फॉलो अप।

गूगल, माइक्रोसॉफ्ट जैसी विदेशी कंपनियों ने हिन्दी की सेवा से अपने बाजार को बढ़ाया है, लेकिन भारी सरकारी अनुदान प्राप्त सी.डेक जैसी संस्थाएँ चुप हो गई हैं। आज भी इन्टरनेट पर 10 प्रमुख भाषाओं में हिन्दी नहीं है। इनपुट प्रायः रोमन में दिया जा रहा है। सरकार से इतना तो करा सकते हैं कि सरकारी कार्यालयों में डेस्कटॉप और लैपटॉप के की-बोर्ड द्विभाषिक हो जावें।

सही तकनीकी उपकरणों पर देवनागरी लिपि का अवैज्ञानिक मानकीकरण हिन्दी की सरकारी संस्था ने थोपा, लेकिन हिन्दी जगत से कोई आवाज नहीं उठी, सब चलता है। अब नई पीढ़ी के उच्चारण अशुद्ध होंगे। अद्वितीय को मानक हिन्दी में अद्‌वितीय पढ़ेंगे इत्यादि।

2015 में प्रारम्भ डिजिटल इंडिया मिशन भारत की 10 प्रतिशत जनसंख्या तक सिकुड़कर रह गया है। इसे डिजिटल भारत बनाना होगा लोक भाषा हिन्दी में।

तकनीकी तो है, चुनौती भाषा जगत को है इसका प्रयोग बढ़ाने की और सावधि समीक्षा करने की।

गत वर्ष पुदुचेरी में एक कॉलेज के NAAC मूल्यांकन के लिए गया था, विशेषज्ञ टीम का अध्यक्ष था। वहाँ छात्रों के अविभावकों ने माँग की थी कि हिन्दी को कोर विषय के रूप में पढ़ाया जाए, क्योंकि इससे इन स्नातकों को नौकरी मिलना आसान होगा। शायद विरोध जनता से नहीं है।

हिन्दी में कंप्यूटर प्रशिक्षण दिए जाने की दिशा में कुछ प्रयोग किए गए हैं। 1985 में हिन्दी में 'डिप्लोमा इन कंप्यूटर एप्लीकेशन' दक्षिण भारत हिन्दी सभा, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार, और वनस्थली विद्यापीठ में शुरू किए गए। बाद में बंद भी हो गए लेकिन हिन्दी जगत ने कोई सुधि नहीं ली। इसी वर्ष 2017 में AICTE ने हिन्दी में इंजीनियरिंग में स्नातक प्रोग्राम के लिए महात्मा गाँधी हिन्दी विश्वविद्यालय, भोपाल को स्वीकृति दी। लेकिन तीन महीने बाद ही प्रोग्राम बंद कर दिया गया। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग की शब्दावली तो बनी है, लेकिन ई-शब्दावली रूप में नहीं है, इंटरनेट पर खोज संभव नहीं है। सरकारी अनुदान से विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में संगोष्ठियाँ, सेमिनार, कॉन्फरेंस होते हैं, लेकिन उनमें एक भी शोध पत्र हिन्दी में नहीं पढ़ा जाता। हिन्दी में शोध नहीं तो समावेशी नवाचार की कल्पना व्यर्थ है। इस उद्देश्य से कतिपय प्रयास किए जा रहे हैं जैसे, विशेषज्ञों के द्वारा समीक्षायित (पिअर-रिव्यूड) अंतरराष्ट्रीय जर्नल 'विज्ञान प्रकाश' का प्रकाशन हिन्दी में किया जा रहा है। इसके मुख्य सम्पादन का दायित्व मैं निभा रहा हूँ। 22 अगस्त 2017 को राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कुरुक्षेत्र में प्रथम अंतरराष्ट्रीय विज्ञान संगोष्ठी का आयोजन हिन्दी में किया गया, इसमें 25 शोध पत्र हिन्दी में प्रस्तुत किए गए। हिन्दी में लिखे गए शोध पत्रों को समीक्षा के बाद 'विज्ञान प्रकाश' में प्रकाशित किया जाएगा। मेरे सुझाव के आधार पर पहली बार SECERT दिल्ली सरकार में माध्यमिक स्तर पर ICT का कोर्स हिन्दी में बनाया जा रहा है। इसका फीडबैक उत्साहवर्धक है। भारतीय विद्या भवन, दिल्ली केंद्र के अनुरोध पर AICTE ने ''भारतीय विद्या सार-भाग 1, और भाग 2" के 3-3 क्रेडिट के दो कोर्सों को स्वीकृत इलेक्टिव कोर्स की लिस्ट में डाला है। इसमें भी मेरी सेवा का कुछ अंश है। इसकी पाठ्य पुस्तक मूल रूप से हिन्दी में लिखी जा रही है। इसके बाद इंग्लिश और अन्य भारतीय भाषाओं में इसके अनुवाद की व्यवस्था होगी। संक्रमण काल में विज्ञान लेखन में मिश्रित हिन्दी को अपनाया गया है। यथासंभव सरल हिन्दी में परिभाषित अंग्रेजी के तकनीकी शब्दों का प्रयोग और विषय प्रतिपादन सुबोध हिन्दी में किया जाता है। इससे विषय अच्छी तरह समझ में आता है, और तकनीकी प्रतियोगिता में भी सफलता मिलती है। 2018 में CBSE के द्वारा आयोजित इन्नोवेशन प्रोजेक्ट्स की प्रतियोगिता में निर्णायक था, सुखद अनुभव हुआ कि प्रतिभावान विद्यार्थियों ने प्रोजेक्ट की बारीकियों को हिन्दी में

बड़ी सहजता से समझाया, जबकि पोस्टर अंग्रेजी में थे, क्योंकि अंग्रेजी विज्ञान की पढ़ाई का माध्यम है।

भाषा प्रौद्योगिकी के विकास में चुनौतियाँ मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में हैं, कंप्यूटर से संवाद के स्तर पर हैं, और बहुभाषिक सूचना खोज में है। तकनीकी में सुधार फीडबैक के आधार पर होते हैं, अधिक प्रयोग और बारंबार फीडबैक से कम समय में परिशुद्ध तकनीकी कम लागत में मिल सकती है। भारतीय भाषाओं का उद्गम संस्कृत से है, इसलिए वर्णक्रम और वाक्य संरचना में समानता है, इनके बीच अनुवाद सरल है, मशीनी अनुवाद प्रणालियाँ उपलब्ध हैं। भारतीय भाषाओं के बीच मशीन अनुवाद प्रणाली 'संपर्क' से पंजाबी-हिन्दी, हिन्दी-पंजाबी, उर्दू-हिन्दी, तेलुगु-तमिल के बीच उच्चस्तर का अनुवाद होता है। 'अनुवादक्ष' से इंग्लिश से हिन्दी, मराठी, बंगाली, उड़िया, उर्दू, तमिल में अनुवाद होता है। 'आंग्ल-भारती' से इंग्लिश से हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, उर्दू, मलयालम में अनुवाद होता है। असमिया, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, मराठी, ओड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलुगू के बीच शब्द/पद के आधार पर अंतरभाषिक खोज से डोक्युमेंट निकालने की 'CLIA' प्रणाली भी विकसित की गई है। अनुवाद प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण लोकीकरण (Localisation) और अंतरराष्ट्रीयकरण (Internationalisation) के क्षेत्र में भी काम हुआ है।

भाषा प्रौद्योगिकी के विकास संबंधी अपेक्षाएँ हैं, जैसे

1. यूनिकोड ग्लिफ आधारित है। ध्वनि आधारित फोनीकोड (PHONICODE) का विकास किया जाए, यह भारतीय भाषाओं के इतर अन्य भाषाओं के लिए भी उपयोगी होगा।
2. UN यूनिवर्सिटी, जापान ने 1995 में विश्व भाषाओं के बीच अनुवाद को सरल बनाने की दृष्टि से UNT यूनिवर्सल नेटवर्किंग लैंग्वेज का विकास आरंभ कराया था। यह शब्द आधारित प्रणाली थी। आज के संदर्भ में वेब प्रधान टेक्नोलॉजी उपयोगी होगी। प्रस्तावित है संकल्पना आधारित/कांसेप्ट बेस्ड नेटवर्किंग लेंग्वेज CNT का विकास। संस्कृत में संकल्पनाओं का विपुल विवरण है।
3. वाक्य संरचना को समझने के लिए कारक आधारित व्याकरण के आधार पर पार्जर बनाए जाएँ। semantic web अर्थमूलक वेब पर क्षेत्र विशेष में ज्ञान निरूपण विधि और कंटेन्ट के विकास की आवश्यकता है। इस दिशा में नव्य न्याय भाषा प्रविधि उपयोगी होगी।
4. गूगल, माइक्रोसॉफ्ट के ऑन-लाइन ट्रांसलेटर उपलब्ध हैं। भारत का ट्रांस्लेटर सिस्टम भी बनाया जाए, जो भारत के सांस्कृतिक वैविध्य और वैशिष्ट्य को सही ढंग से प्रस्तुत कर सके। इसके अतिरिक्त स्पैल चेकर,

ग्रामर चेकर, टर्मिनोलॉजी मैनेजर, ई-कोश, ट्रांसलेशन मेमोरी टूल्स, हिन्दी/भारतीय भाषाओं में लेखों/शोधपत्रों में नकल पकड़ने के लिए 'Turnitin', 'Plagiarism Checker', 'Dupli Checker' जैसे सॉफ्टवेयर के विकास की आवश्यकता है।

5. अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में मेस्सिव ओपेन ऑन-लाइन कोर्स (MOOCs) और ई-ट्रेनिंग प्रोग्राम बनाए जा रहे हैं, मुफ्त में उपलब्ध हैं। इनके अनुवाद/अनुसृजन और लोकीकरण की आवश्यकता है जिससे गुणवत्तापूर्ण प्रशिक्षण की सुविधा मिल सके। स्किल डेवलपमेंट/कौशल विकास प्रोग्राम में इसकी बहुत जरूरत है।
6. ट्रांसलेशन वर्कबेंच और लोकलाइजेशन एंड ट्रांसलेशन क्लाउड का विकास किया जाएँ।
7. तकनीकी शब्दावली तेजी से वेब पर खोजनीय बनाई जाए। उत्तम शैली के लेख वेब पर उपलब्ध कराए जाएँ।

तकनीकी स्तर पर भाषाविदों / भाषा प्रेमियों की भी कुछ चुनौतियाँ हैं, जैसे

1. भारतीय भाषाएँ ध्वन्यात्मक हैं। एक सर्वमान्य परिवर्धित देवनागरी वर्णमाला को आधार मानकर इण्टरनेशनल फोनेटिक अल्फाबेट (IPA) का विकास किया जाए। इण्टरनेशनल बनाने में कठिनाई हो तो इंडियन फोनेटिक अल्फाबेट (IPA) बनाएँ।
2. सभी भाषा पाठ्यक्रमों में ICT कंप्यूटर एवं संचार प्रौद्योगिकी अनिवार्य कोर विषय हो, सभी प्रोजेक्टों में ICT का अधिकाधिक प्रयोग किया जाए। अनुवाद प्रशिक्षण में मशीन अनुवाद सॉफ्टवेयर का प्रयोग हो, सुझाव भी बनाए जाएँ। अनुसृजन प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया जाए। प्रयोजनमूलक हिन्दी/भाषा पाठ्यक्रम बनाए जाएँ, शोध कार्य को बढ़ावा दिया जाए।
3. IT, CSE, DCA, MCA के डिप्लोमा/डिग्री पाठ्यक्रमों में यूनिकोड और भारतीय भाषा संसाधन विषय अनिवार्य किए जाएँ।
4. डिजिटल भारत को साकार करने की दिशा में इलेक्ट्रॉनिकी एवं सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय से संपर्क साधकर सार्थक प्रयास किए जाएँ। (डॉट) भारत डोमेन नेम का प्रयोग बढ़ाया जाए। डिजिटल सर्विस मैनेजमेंट का प्रोग्राम हिन्दी–अंग्रेजी मिश्रित सुबोध भाषा में शुरू किया जाए।
5. सरकारी अनुदान से विकसित 20 सुंदर फॉन्ट, सकल भारती फॉन्ट, फॉन्ट कन्वर्टर, ट्रांसलेशन मेमोरी मोड्युल्स, ओ सी आर, समांतर कोर्पोरा, लोकलाइजेशन टूल्स आदि सर्वसुलभ हों। गूगल, माइक्रोसॉफ्ट जैसी कंपनियों

को भी इन्हें उपलब्ध कराया जाए। इसका प्रयोग अधिकांश तो भारतीय ही करेंगे।

6. देवनागरी लिपि के अवैज्ञानिक मानकीकरण को निरस्त कराया जाए।
7. उच्च तकनीकी संस्थानों में जिस प्रकार जर्मन, फ्रेंच, जापानी भाषाएँ सिखाने की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार भारतीय भाषा अध्ययन के लिए भी सुविधा उपलब्ध कराई जाए।
8. 10-2 के बाद विज्ञान, तकनीकी, मेडिकल, प्रबंधन जैसे प्रोफेशनल प्रोग्रामों में प्रथम वर्ष में शिक्षा का माध्यम हिन्दी-अंग्रेजी मिश्रित हो, जिससे विषय को अच्छी तरह समझने में आसानी हो। इस प्रकार की शिक्षा से जनता से संवाद भी सार्थक बन पड़ेगा।
9. सरकारी अनुदान प्राप्त सभी संगोष्ठियों और कार्यशालाओं में न्यूनतम 30% चर्चा, लेख प्रस्तुति हिन्दी/भारतीय भाषा में हो। इनके सूचना पत्रों और प्रोसीडिंग्स, रिपोर्ट में भी इसी अनुपात में प्रकाशन हो। विद्वत् चर्चाओं में समावेशी संस्कृति को बढ़ावा दिया जाए। UGC, AICTE, NBA, NAAC जैसी संस्थाएँ व्यक्ति अथवा संस्था के मूल्यांकन में ऐसे योगदान को महत्त्व दें। प्रोमोशन में भी हिन्दी/भारतीय भाषा के पियर रिव्यूड जर्नल में प्रकाशित शोधपत्रों को भी मूल्यांकन में शामिल किया जाए।
10. एक स्वतंत्र समीक्षा समिति बनाई जाए जो तकनीकी दृष्टि से विविध प्रोग्रामों में प्रगति की समीक्षा करे।

अंत में, सह वीर्यं करवावहै। मिलकर बढ़ें, उत्कृष्ट बनें।

किरात देश की बौद्ध कला में अंतर्निहित, समान्वेषी धार्मिकतत्त्व

विनय कुमार राव*

औपनिवेशिक शासन के प्रादुर्भाव के समय से ही भारत वर्ष की अखंडता को पाश्चात्य विद्वानों द्वारा चुनौती दी जाती रही है। इस उद्देश्य के अंतर्निहित, एक सांस्कृतिक एकक के रूप में भारत की अस्मिता पर औपनिवेशिक शासन काल में ईसाई मिशनरियों द्वारा द्वेषपूर्ण कुठाराघात किए गए। स्वतंत्रता के उपरान्त एक सुस्थापित पूर्वाग्रही विचारधारा से पोषित बुद्धिजीवियों द्वारा भी इस पूर्वाग्रह के प्रतिकार की दिशा में कोई गंभीर प्रयास नहीं किए गए। इस निमित्त उक्त पूर्वाग्रह से ग्रस्त विद्वानों ने सदैव इस मत को स्थापित करने में कोई कोर कसर नहीं उठा रखी जो यह प्रशस्त करती कि भारत का पूर्वोत्तर भाग सदैव से एक अलग-थलग प्रदेश रहा और इसे भारतीय मुख्यधारा में प्रविष्ट करने का श्रेय केवल ईसाई मिशनरियों और पाश्चात्य विद्वानों को जाता है।

भारत के पूर्वोत्तर भाग के सन्दर्भ में यदि पूर्णतः निरपेक्ष होकर साहित्यिक, पुरातात्विक और अभिलेखीय साक्ष्यों का अध्ययन किया जाए तो इस निष्कर्ष तक पहुँचने में कोई संदेह नहीं रहेगा कि भारत का पूर्वोत्तर भाग, सदैव से भारत का अभिन्न अंग रहा है। भारत के पूर्वोत्तर भाग की महत्ता पश्चिमी बर्मा और दक्षिण-पश्चिमी चीन को हुकवांग घाटी के माध्यम से जोड़ने के लिए उल्लेखनीय रूप से रही है। यह क्षेत्र सदियों से तवांग, जीरो और अरुणाचल की पहाड़ियों के द्वारा चीन के लिए भी एक सुलभ यात्रा मार्ग उपलब्ध करता रहा है। भारत के इस भाग से बराक और मणिपुर होते हुए बाली और सुमात्रा तक भी पहुँचा जाता रहा है।[1] भारत के पूर्वोत्तर भाग को समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में एक असंदिग्ध और पुष्ट अभिलेखगत पहचान प्रदान की गई है। भारत के पूर्वोत्तर भाग का विवरण देते हुए समुद्रगुप्त की कीर्ति-

*सह-प्राध्यापक, इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय जाट-पाली, महेंद्रगढ़-12031 (हरियाणा), मो. 09435170941

पताका का प्रशस्ति-गायन करते हुए हरिकृष्ण कहता है कि 'जिसने समस्त आट्विक राज्यों को जीतकर अपना सेवक बनाया और सामातट, डवाक, कामरूप, नैपाल, कर्तपुर आदि सीमांत प्रदेशो को अपनी आज्ञा के अनुपालन को बाध्य किया'।[2] सामातट के रूप में चिह्नित, पूर्वोत्तरभाग में स्थित त्रिपुरा राज्य का विवरण पुराणों में तिप्परा या त्रिपुरी के रूप में मिलता है। वर्तमान परिदृश्य में 22°59' से 24°31' अक्षांश और 91°12' से 92°24' देशांतर के मध्य स्थित, भारत के त्रिपुरा राज्य को प्राचीन साहित्यिक स्रोतों में किरात और सूक्ष्म देश के नाम से भी उल्लिखित किया गया है और इसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के वास वाली मुख्य भारत-भूमि के पूर्व में अवस्थित बताया गया है, जिसके पश्चिम में यवन राज्य करते थे।[3] राजमाला नामक त्रिपुरा के राजाओं की वंशावली में भी त्रिपुरा का उल्लेख तिप्परा नाम से हुआ है जो उत्तर की दिशा में त्रिगंगा नदी और दक्षिण की दिशा में अराकान, पूर्व में मेख्ले या मणिपुर और पश्चिम में बंगाल से घिरा हुआ था।[4]

त्रिपुरा राज्य की राजधानी अगरतला से लगभग 80 किलोमीटर और दक्षिणी त्रिपुरा के जोलाईबाड़ी से 3 किलोमीटर की दूरी पर पिलाक का ऐतिहासिक-धार्मिक पुरास्थल लगभग 10 वर्ग किलोमीटर की परिधि में श्यामसुन्दर टीला, पुजखोल टीला, ठकुरानी टीला, देब बाड़ी, बासुदेब बाड़ी, बालिर पाथर नामक विभिन्न स्थलों में विस्तृत है। पिलाक, अगरतला और उदयपुर से सरल और सुगम्य पक्के सड़क मार्ग द्वारा पोषित है और सभी न्यूनतम पर्यटक सुविधाओं से सम्पन्न है।

त्रिपुरा के दक्षिणी भाग में स्थित पिलाक को सर्वप्रथम अन्वेषित करने और प्रकाश में लाने का श्रेय सुविख्यात पुरातत्त्वेत्ता, श्री अमलानन्द घोष को जाता है जिन्होंने इसे 1965-66 में ढूँढा। 2000-01 में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग ने पिलाक का पुनः विस्तृत उत्खनन किया जिसके फलस्वरूप पक्की इष्टिकाओं से निर्मित और मृण्पट्टिकाओं से सुसज्जित एक विशाल स्तूप उद्भासित हुआ।[5] पिलाक के पुरास्थलों में श्यामसुन्दर टीला सर्वाधिक ऊँचा है और सर्वतो भद्र मन्दिर परिसर में स्थित स्तूप, वास्तुकलागत संरचना में वर्तमान बांग्लादेश के नगाँव जिले और बागल्कुची उप-जिले में स्थित पहाड़पुर के सोमपुरा महाविहार स्थित स्तूप से निकट सादृश्य रखता है। इस स्तूप की संरचना में स्वास्तिक आकार से सादृश्य रखती पंचरथ पद्धति उदीयमान है। पिलाक का मुख्य स्तूप 34.5 मीटर विस्तृत मेधि और धरातल से 1.70 मीटर की ऊँचाई लिए हुए है। स्तूप के भीतर स्थित प्रथम प्रदक्षिणापथ 1.75 मीटर चौड़ाई लिए हुए है और यह स्तूप के उपरी भाग तक आरोहणार्थ पाँच सोपानों से युक्त है, जिनकी चौड़ाई 4.7 मीटर है।[6] इस स्तूप के अवशेषों को देखकर प्रारुपिकीय आधार पर यह स्पष्ट होता है कि अपने वैभव काल में यह चारों प्रधान दिशाओं में चार बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं से सुसज्जित था, जिनकी ऊँचाई 1.7 मीटर थी। स्तूप का मध्य भाग 12-15 मीटर ऊँचा था। यह संभवतः बेलनाकार आकृति लिए हुए था, जिसके शीर्ष पर हर्मिका और छत्र प्रायोजित थे (फलक 1)।

पिलाक से प्राप्त मूर्तिकलागत अभिप्राय, स्थल के बौद्ध स्थल होने के पर्यंत भी हिंदू और बौद्ध धर्म, दोनों से सम्बद्ध अंकनों को संजोए हुए हैं। यह पुरातात्त्विक स्थल दोनों धर्मो के मध्य के विलक्षण शांतिपूर्वक सह-अस्तित्व को दर्शाता है। यहाँ से प्राप्त कलाकृतियों तथा मोहरों की आरंभिक तिथियाँ 8वीं और 9वीं शताब्दी ई. के मध्य की हैं। पिलाक से प्राप्त अधिकांश कलाकृतियाँ आकार, प्रकार और शैलीगत आधार पर बंगाल की पाल और उसकी पूर्ववर्ती गुप्त मूर्तिकला से सामीप्य रखती हैं। ये काफी सीमा तक बंगाल के पाल-सेन युग से सम्बद्ध अनेक बौद्ध पुरास्थलों को ही भारत के इस पूर्वोत्तर भाग में पुनःप्रक्षेपित करती प्रतीत होती हैं।

मैनामती (23°25'उ. और 91°7' पू.), वर्तमान बांग्लादेश के दक्षिण-पूर्वी हिस्से के कॉमिल्ला जिले में अंतर-मेघना बेसिन में स्थित एक प्रमुख बौद्ध स्थल है। मैनामती 900-1050 ई. के मध्य अपने वैभव पर था और अभिलेखों में समतट के नाम से प्रसिद्ध था।[7] कॉमिल्ला जिले में स्थित एक और बौद्ध पुरास्थल आनंद विहार, लालमई-मैनामती श्रेणी में मेघना द्रोणी में स्थित है।[8] इसी क्षेत्र में रूपबन मुरा, कम बाढ़ वाले मैदानी क्षेत्र में तिप्पेराकी पहाड़ियों के बाहर स्थित है। इसका उल्लेख चन्द्र राजा के ताम्रपत्र में रोहितगिरी और लालंबी वन के रूप मिलता है।[9] वर्तमान बांग्लादेश में स्थित उपरोक्त पुरास्थलों और वर्तमान भारत के पूर्वोत्तर में स्थित पिलाक के मध्य एक उल्लेखनीय समानता भूगर्भिक सादृश्य को लेकर है। अंतर-मेघना द्रोणी में स्थित ये सभी स्थल पुरानी लेटराइट जलोढ़ मिट्टी से निर्मित हैं और कठोर पत्थर के स्रोतों

के खदानों के स्रोत तक सीमित पहुँच रखने वाले हैं। पिलाक का विकास मुख्यतः पाल युग में हुआ और इस निमित्त यहाँ बड़ी संख्या में बौद्ध और ब्राह्मण अभिप्रायों का अंकन किया गया।[10] कठोर पत्थर के अभाव में पिलाक और अंतर-मेघना द्रोणी में स्थित अन्य स्थलों में जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, वे कलात्मक दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट प्रकार की नहीं हैं। इसका मुख्य कारण कला-माध्यम के रूप में काले बेसाल्ट पत्थर की अनुपलब्धता होना है, जो पाल और सेन युग से सम्बद्ध अन्य स्थलों में इस क्षेत्र की भाँति नहीं पाई जाती।

लेटराइट जलोढ़ मिट्टी के जमाव क्षेत्र में स्थित होने के कारण पिलाक और इस क्षेत्र में धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष अभिप्रायों के अंकन को कलात्मक रूप से साकार करने के लिए मिट्टी के उपयोग की पुरानी पद्धति को नए सिरे से उपयोग में लाया गया। जलोढ़ मिट्टी एक जीर्ण संरचना वाली, असमेकित और जल द्वारा अवसादों के पुनर्निक्षेपिकरण से निर्मित मिट्टी होती है। गाद और मृत्तिका के बारीक कणों से युक्त जलोढ़ मिट्टी प्रकृति से चिकनी और चिपचिपी होती है। गीले होने के दौरान यह अच्छी तरह से नमी संजोए रखती है लेकिन पानी के साथ सरलता से घुलनशील नहीं होती। जलोढ़ मिट्टी की इन्हीं विशेषताओं ने अंतर-मेघना क्षेत्र में मूर्तिकारों और कला-संरक्षकों को विभिन्न धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष अभिप्रायों के अंकन के लिए एक वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया।

पिलाक से उत्खनित मुख्य स्तूप से संलग्न मृण्पट्टिकाओं के अवलोकन और भारत के पूर्वी भाग में प्रचलन में रही मृण्भांड निर्माण परंपरा पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट होता है कि मृण्पट्टिका निर्माण के लिए प्रयुक्त होने वाली मिट्टी को तैयार करने के लिए इसे पहले भली-भाँति गूँथ लिया जाता था। मिट्टी को वांछित आकार देने के लिए इसे धरातल पर रख के आकार दिया जाता था। तदनुपरांत इस पर सूक्ष्म तक्षणी से अभिप्रायों को उकेरा जाता था और सूखने पर इसे दृढ़ स्वरूप प्रदान करने के लिए आग में पकाया जाता था (फलक 2)। अंत में इन पकी हुई मृण्पट्टिकाओं को व्यवस्थित क्रम में स्तूप के आधार-पटल पर पहले से निर्धारित स्थान में संलग्न कर दिया जाता था। पार्श्वों पर संलग्न पट्ट 56×22 से.मी. के आकार के और अन्य 40×25 से.मी. से लेकर 20×23 से.मी. तक के कुछ भी आकार के हो सकते थे।

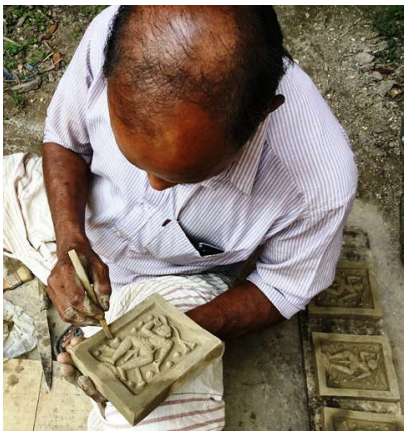

पिलाक की मूर्तिकला

पिलाक मुख्यतः बौद्ध मत को समर्पित विविध अभिप्रायों की वास्तुगत और मूर्तिकलागत संरचना का उत्तर-पूर्व भारत में प्रतिनिधित्व करता है। बौद्ध मत की महायान शाखा के वज्रयान और तंत्रयान के प्रति झुकाव रखने वाले इस स्तूप के ध्वंसावशेषों में बड़ी संख्या में ऐसे कलागत अभिप्राय उपलब्ध हुए हैं, जो बौद्ध धर्म से इतर ब्राह्मण धर्म विषयक तत्त्वों की उपस्थिति को दर्शाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे कलात्मक अभिप्रायों भी यहाँ देखने को मिलते हैं, जिनकी प्रवृत्ति धर्मेतर है और यह अपने में समसामयिक जीवन, वनस्पतिगत और जीव-जंतुओं की छवि को मूर्तियों में सँजोए हुए है।

पिलाक की मूर्तिकला में अंकित बौद्ध अभिप्राय

पिलाक की मृण्पट्टिकाओं पर अंकित कला में बुद्ध के जीवन और पूर्व-जीवन की कुछ घटनाओं को दर्शाया गया है। यहाँ बुद्ध की उपस्थिति संकेतात्मक के स्थान पर मानवाकार रूप में की गई है। बुद्ध के जन्म से पूर्व गर्भ-अवक्रांति, मानवाकर रूप में ध्यान और भैषज्य मुद्रा से लेकर महायानी बोधिसत्त्व के रूप में बुद्ध पिलाक की कला में उपस्थित है तो वहीं तारा एक देवी के रूप में उत्कीर्णत हैं।

माया के स्वप्न का विवरण देते हुए अश्वघोष बुद्धचरित में बताते हैं कि माया ने गहरी निद्रा में एक श्वेत हस्ति को अपने शरीर में प्रवेश करते देखा, और तब भी इस निमित्त उन्हें लेशमात्र भी पीड़ा का अनुभूति नहीं हुई। तदन्तर माया ने देखा कि राजकीय वैभव से युक्त एक देवता ने उनकी स्तुति की और उस पाप-मुक्त वन में उन्हें तमाम शंकाओं और क्लान्ति से मुक्त किया।[11] इसी कथानक को और अधिक विस्तार से अविदूरेनिदन में प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि एक बार कपिलवस्तु के लोग आषाढ़ का आनंद-उत्सव मना रहे थे। इस अवसर पर माया भी सम्मिलित हुई और सभी प्रकार के व्यसनों से परहेज करते हुए दान प्रदान किए तथा धार्मिक प्रवचनों को सुनने में अपना दिवस व्यतीत किया। उत्सव के सातवें दिन वह शीघ्र उठ गईं, उन्होंने पानी और स्नान के उपरांत दान प्रदान कर उपोसथ के पूर्ण नियमों का पालन किया। उस दिन उन्होंने स्वप्न देखा कि चार दिक्पाल उन्हें शायिका सहित उठाकर हिमावंत क्षेत्र में एक छायादार वृक्ष के नीचे एक मान-शिला पर ले गए। तदुपरांत मानवीय मलों से अवमुक्त करने के लिए उन्हें दिक्पालों की पत्नियों द्वारा अनातोप्त-दह झील में ले जाया गया। तब वह राजता-पब्बाता में उसके बाद वह सिर को पूर्व की दिशा में रखकर सुवर्ण-विमान पर सो गई। उसी अवस्था में उन्होंने बोधिसत्त्व को उत्तर दिशा से एक सफेद हाथी के रूप में, अपनी सूंड में श्वेत कमल

लिए हुए आकाश से अवतरित होते देखा। ऊपर से उतरे हाथी ने पहले माया के चारों ओर परिक्रमा की तदुपरांत उनके गर्भ में दाहिने तरफ से प्रवेश किया।[12] अवदान में वर्णित उपरोक्त कथा को पिलाक में अत्यंत संक्षिप्त और संकेतात्मकता के साथ दिखाया गया है। यहाँ आकाश से अवतरण करते हुए एक विशालकाय दन्त-युक्त हाथी को अपनी सूंड में कमल-पुष्प लिए अंकित किया गया है। गर्भ-अवक्रांति को दर्शाता यह अंकन बुद्ध की गरिमा और प्रतिष्ठा के सर्वथा अनुकूल है, जिसकी पूरी मर्यादा मूर्तिकार ने अपनी कला में रखी है (फलक 3)।

पूर्वकालीन हीनयानी कलात्मक परिपाटी के विपरीत पिलाक में बुद्ध को मानवाकार अंकित किया गया है। यहाँ से बुद्ध के दो अंकन मृण्पट्टिकाओ पर मिले हैं, जिनमें पहले सन्दर्भ में बुद्ध एक निस्सारित हो रहे कमल पर ध्यान मुद्रा में अंकित

है। ध्यान मुद्रा के कारण, दोनों हाथों के मध्य बने समान कोण, तनी हुई ग्रीवा और विस्तृत वक्ष-स्थल, आदि सभी विशेषताएँ इस अंकन को उल्लिखित मुद्रा के पूरी तरह से अनुकूल बनाती हैं (फलक 4)। मानवाकार रूप में बुद्ध को दूसरे अंकन में हलके वाम-कोण से अंकित किया गया है। भैषज्य-बुद्ध के इस कलांकन में दोनों हथेलियों को, मुड़े हुए पैरों की एड़ियों पर रख उनपर भैषज्य-पात्र रखे, जिस भाँति आकर्षक रूप से अंकित किया गया है, वह आकर्षक तो है, पर उसमें पूर्ववर्ती मूर्ति की तरह दृढ़ता का अभाव है (फलक 5)।

महात्मा बुद्ध के जीवन की एक मुख्य घटना, जो वैशाली के पारिलेय्यक वन में घटित हुई थी और जिसे वैशाली के चमत्कार के नाम से भी जाना जाता है, का भी चित्रण पिलाक में मिलता है। महावग्ग में वर्णित है कि एक बार जब कौशाम्बी के संघ में विवाद हो गया और बुद्ध उसका निराकरण करने में असफल हो गए, तब वे व्यथित होकर वस्सावास के निमित्त वैशाली के पारिलेय्यक वन में चले गए। इस दरमियान वन में विचरण करने वाले एक हाथी ने उन्हें जल और एक कपि ने मधु उपलब्ध करा उनके उपवास का परिष्कार किया।[13] वैशाली के चमत्कार को पिलाक में बहुत ही आकर्षक और शिष्टता के साथ अंकित किया गया है। यहाँ एक पुष्ट आकर के वानर को दाहिने कोण से हाथ में मधु-पात्र लिए दिखाया गया है। वानर बहुत ही सम्माननीय मुद्रा में, अपने दोनों पैरों को मोड़कर, बड़ी सौजन्यता के साथ मधु-पात्र बुद्ध को समर्पित कर रहा है। ऊपर की ओर उठी हुई उसकी पूँछ और धनुष की तरह वक्रता लिए हुए उसके पृष्ठ को, जिस कलात्मकता के साथ कला में अंकित किया गया है, वह इसे अत्यंत प्रशंसनीय बनाता है (फलक 6)।

बौद्ध धर्म विषयक मूर्तियों के कलांकन में बोधिसत्त्व का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों में बोधिसत्त्व को विशेष मान्यता प्रदान की गई है। हीनयान में जहाँ बोधिसत्त्व को बुद्ध के विगत जीवन की

घटनाओं, जातक कथाओं और विभिन्न पारमिताओं के अभ्यास द्वारा बुद्धत्व की परिलब्धि के विषयक लिया जाता है वहीं महायान में बड़ी कठिनता और चेष्टाओं के पर्यंत मिले बुद्धत्व को करुणा भाव में व्यथित लोगों के कल्याणार्थ हस्तांतरित करते हुए देखा जा सकता है। बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व एक बोधिसत्त्व को पिलाक की मूर्तिकला में सरलता से चिह्नित किया जा सकता है। अर्द्ध-लीलासन में भूमि का आश्रय लिए हुए बैठे इस बोधिसत्त्व को कुलीन परिधान और आभूषणों के साथ कुछ सोचते हुए अंकित किया गया है। भाव के स्तर पर यह छवि राजप्रासाद के परित्याग के पूर्व बुद्ध की विचलित मनोदशा को इंगित करती प्रतीत होती है (फलक 7)।

ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मों में, तारा को देवी के रूप में दस-महाविद्याओं में द्वितीय स्थान पर रखा गया है और इसे प्रायः शक्ति के रूप में तांत्रिक-अभिव्यक्ति के पर्याय स्वरूप ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः तारा, महायान में नारी रूप में बोधिसत्त्व की उपस्थिति और वज्रयान में मातृस्वरूपा करुणामयी बुद्ध की अभिव्यक्ति है। पिलाक की मृण्पट्टिका में तारा को बाएँ हाथ में कमल का फूल लिए उकेरा गया है। अपने दोनों पैरों को सतह पर मोड़ कर बैठे हुए तारा यहाँ अपने दाहिने हाथ को घुटने पर विश्राम दिए हुए सम्मुखदर्शी प्रतिबिंबित है। कमनीय कटियुक्त तारा हलके कर्णाभरण और सुविन्यसित केश-सज्जा से युक्त है (फलक 8)।

पिलाक की मूर्तिकला में अंकित ब्राह्मण-धार्मिक अभिप्राय

ब्राह्मण धर्म में शिव को उनकी विनाशक शक्ति के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। उन्हें ब्रह्मांड के गठित तत्वों का प्रतिनिधित्व करने वाला और सामान्यतः उन्हें पार्वती के रूप में उनकी शक्ति के साथ अंकित किया जाता है, जिसके द्वारा (पार्वती) सृष्टि के सभी तत्त्वों का संयोजन किया जा सकता है। एक साथ शिव और शक्ति, जीवन के दो महत्त्वपूर्ण पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रथम पौरुष, जो ईश्वर की नियामक के रूप में पुष्टि करता है, और द्वितीय नारीगत, जो एक दीर्घकालिक उर्जा का पर्याय है।

पिलाक में शिव, सांकेतिक और मानवाकार आकृति में मूर्त्यांकित किए गए हैं। शिवलिंग के रूप में एक निरूपण में शिवलिंग की विष्णुपीठ से दो वल्लरियों को प्रस्स्फुटित होते देखा जा सकता है, जिसके मध्य भाग से शिवलिंग की शिवपीठ उद्भाषित हो रही है। शिवलिंग की विष्णुपीठ अत्यंत अलंकृत अंकित हुई है और इसकी ब्रह्मपीठ प्यालानुमा आकार लिए हुए है। यह अपनी तरह का विलक्षण प्रकार का शिवलिंग है, जो पिलाक में मिला है (फलक 9)। इसी तरह के अंकन से प्रेरणा लेते हुए, पिलाक में एक अन्य पट्टिका में अधखिली कुमुदिनी के शीर्ष पर ठीक मध्य भाग में, क्षैतिज दिशा में एक दण्ड को स्थित देखा जा सकता है। उल्लेखनीय रूप से इस दण्ड के दोनों सिरों पर त्रिशूल-शीर्ष संलग्न है, जो सुविज्ञ रूप से शिव का अस्त्र है (फलक 10)। शिव को यहाँ चार हाथों के साथ देवाकार रूप में देखा जा सकता है। शिव, अर्द्ध-लीलासन में सहज मुद्रा में भूमि पर ही विराजमान प्रदर्शित हैं और उन्होंने अपने दोनों हाथों को अपने दोनों घुटनों पर रखा हुआ है। उनके सर पर जटा और कानों में भारी कुंडल विराजमान है। वे अपने बाएँ हाथ त्रिशूल धारण किए हुए हैं, जिसके मध्य दण्ड भाग में एक डमरू संलग्न है (फलक 11)। शिव के ही सन्दर्भ में शक्ति के पर्याय-स्वरूप दुर्गा को भी ग्रहण किया जाता है, जो बुराई और अच्छाई के मध्य सत्य और अच्छाई के पक्ष में संघर्ष करनेवाली देवी है। कला में दुर्गा की

उपस्थिति सामान्यतः तौर पर पर एक सिंह के ऊपर सवार देवी रूप में दर्शाई जाती है। पिलाक में एक दृश्यांकन में देवी दुर्गा को एक विशाल और विकराल सिंह की सवारी कराते प्रदर्शित किया गया है। सिंह की पीठ पर काठी पर सवार दुर्गा की अंग-भंगिमा, उनकी रौद्रता को सजीव ढंग से प्रस्तुत करती है, जो उनके द्वारा बाएँ हाथ में अस्त्र धारण किए और दाहिने हाथ से सिंह को नियंत्रित करते हुए, महिषासुर-मर्दन के लिए गमन करने का द्योतक है (फलक 12)।

गणेश को हिन्दू परंपरा के अनुकूल, पृथ्वी के मूलाधार चक्र के स्वामी के रूप में सभी बाधाओं का हनन करने वाला माना जाता है। विघ्नहर्ता के विशेष संदर्भ में, गणेश को बौद्ध प्रतिष्ठानों के पार्श्वों पर भी प्रतिष्ठित किया जाता है। इन्हें पाषाण, स्फटिक, कांस्य, मृण्मूर्ति जैसे विविध माध्यमों के द्वारा बौद्ध प्रतिष्ठानों के केंद्र में भी प्रतिष्ठित किया गया पाया गया है। पिलाक में गणेश का एक अंकन मिलता है जिसमें उन्हें सम्मुखदर्शी रूप में पद्मासन में बैठे उत्कीर्णित किया गया है। अपनी छवि के अनुरूप उन्हें विस्तृत उदर और सूंड (वाम वक्र लिए) के साथ अंकित किया गया है (फलक 13)।

वन में विचरण करते राम-लक्ष्मण, राम के वनवास, जैसी कई कई घटनाओं का चित्रण पिलाक में किया गया है। इस सन्दर्भ में दो दृश्य अत्यंत उल्लिखित हैं। प्रथम वन में स्वर्ण-मृग का छद्म भेष धारणा किए दुष्ट मारिच और दूसरे में, स्वर्ण-मृग का शिकार करने जाते श्रीराम। यहाँ पर्ण-कुटी से दूर, मारिच[14] द्वारा बार-बार पीछे मुड़कर राम को आखेट के लिए पीछे आने को प्रलोभित करते देखा जा सकता है, जिससे रावण को सीता का हरण करने का समुचित अवसर उपलब्ध हो जाए (फलक 14)। इस फलक के ठीक बाद राम को मृग के पीछे दौड़ते हुए उसके वध हेतु, कणों तक धनुष की प्रत्यंचा खींच बाण को चलाते दिखाया गया है। पिलाक के बौद्ध-स्मारक से हनुमान और उनसे सम्बंधित एककों का मिलना एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। यहाँ हनुमान द्वारा सीता की खोज और कुशल-क्षेम जाने के लिए लंका-गमन की घटना[15] को रोचक ढंग से प्रदर्शित किया गया है। इस दृश्य के अंकन में श्रीराम के आदेश का अनुकरण कर सीता की खोज में हनुमान को सागर की लहरों के ऊपर वायु मार्ग से जाते हुए देखा जा सकता है। इस दृश्यांकन में सागर की लहरों के थपेड़ों और प्रतिगामी वायु के प्रतिरोध का परिमार्जन करने निमित्त हनुमान द्वारा अपने शारीरिक

अवयवों का, जिस कुशलता से उत्कीर्णन किया गया है, वह अत्यंत प्रशंसनीय है (फलक 15)। इसी क्रम में मूर्च्छित लक्ष्मण के प्राण बचने के लिए हनुमान द्वारा संजीवनी बूटी लाने के क्रम में समूचे गंधमादनपर्वत को ही उखाड़ कर लाने के उद्यम को भी कला में जीवंत किया गया है।[16] दृश्य में हनुमान को एक हाथ में वृक्ष और दूसरे हाथ में पर्वत को धारण किए नभ से अवतरित होते देखा जा सकता है। उनके मुख पर तेज और अत्यंत दुष्कर कार्य को सम्पन्न करने की सफलता तथा शरीर की शिथिलता से क्लांत भाव स्पष्टतः परिलक्षित हो रहे हैं (फलक 16)। ज्ञातव्य है कि हनुमान के स्वामी सुग्रीव की पत्नी का हरण बलपूर्वक बाली द्वारा कर लिया गया था। बाली की शक्ति के कारण सुग्रीव निष्काषित जीवन जीने को बाध्य था। श्रीराम द्वारा सुग्रीव को बाली से युद्ध करने को प्रेरित किया गया, जिससे उसका वध किया जा सकेय को पिलाक में मूर्त्याकित किया गया है।[17] यहाँ सुग्रीव को बाली से द्वंद्व-युद्ध करते देखा जा सकता है। इस क्रम में दोनों ने अपने हाथों में वृक्ष-शाखाएँ उखाड़ कर पकड़ी हुई हैं और दोनों एक दूसरे के ऊपर आघात करने को तत्पर हैं तथा एक-दूसरे को गिराने के लिए दोनों ने एक दूसरे के पैरों को आपस में गुत्थम-गुत्था कर रखा है (फलक 17)। ब्राह्मण धर्म में सुज्ञात शंकरपुत्र कार्तिकेय की पिलाक में उपस्थिति एक विस्मित करने वाली घटना है क्योंकि कार्तिकेय को सामान्य तौर पर दक्षिण भारत में

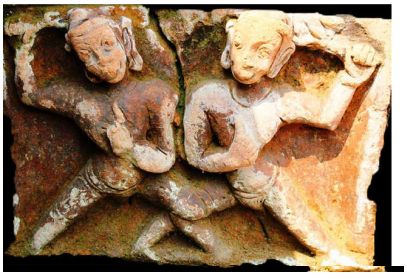
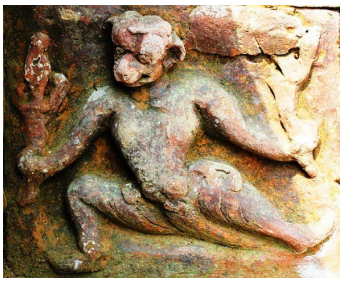

उपासेय माना जाता है इसमें चित्रित कार्तिकेय को एक वीर और साहसी युवा के रूप में एक मोर (मुर्गे से सादृश्य रखते) पर सवारी हाथ में ताने हुए धनुष पर बाण चढ़ाए शत्रु के विनाश को अग्रसर अंकित किया गया है (फलक 18)। इसके अतिरिक्त कामदेव को अपने काम-बाण से बिंधाते हुए एकाधिक स्थानों पर पिलाक में देखा जा सकता है। कामदेव, एक दैवीय शक्ति के रूप में बौद्ध और ब्राह्मण दोनों धर्मों में सामान रूप से प्रचलित माने जाते हैं।

पिलाक की मूर्तिकला में अंकित अर्द्ध-दैवीय तत्त्व

पिलाक में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से इतर अनेक ऐसे तत्त्वों का भी अंकन किया गया है, जिनकी प्रवृत्ति देव और मानव के बीच की है। इसमे वैसे तत्त्व सम्मिलित हैं जो असाधारण शक्तियों से सम्पन्न होते थे और परिस्थिति के अनुसार कल्याणकारी या संहारक की भूमिका का निर्वहन करते थे। धर्म की शरण में आने पर ये अपनी नकारात्मकता का परित्याग कर उद्धारक का कार्य करते थे। राक्षस, जिन्हें निकटवर्ती बर्मा में भीलू के नाम से जाना जाता है, का अंकन पिलाक में अनेकानेक स्थानों पर हुआ है। सर पर तीन श्रृंग लिए, चौड़े ललाट पर दुर्दांत खिंचाव लिए, इन आकृतियों के नेत्र चढ़े हुए हैं। खड़े कानों, लम्बी पर चपटी नाक, ऊपर उठी नाक और मुँह के दोनों सिरों पर बाहर की ओर निकले दो नुकीले रदनक दन्त इसकी छवि को उग्र और आक्रामकता प्रदान करते हैं (फलक 19)। धार्मिक स्थान पर इस छवि के अंकन का

मुख्य अभिप्राय इस असाधारण शक्ति से संपन्न एकक का धर्म के पराभूत हो जाना और धर्म के प्रति प्रतिकूल दृष्टि रखने वाले को चेतावनी देना है। असाधारण शक्ति के स्वामी के रूप में सिंह को देश-काल के परे सदैव से ही अद्वितीय माना जाता है। ऐसे में दो सिंह-शरीरों का संयोजन इसकी अपरिमित शक्ति में और विस्तार को ही निर्दिष्ट करता है। इस तरह की सिंह-आकृतियों को विशेष तौर पर अधिष्ठान के कोनों पर उत्कीर्णित किया गया है। ये सिंह तीक्ष्ण पंजे लिए अपने मुड़े हुए पैरों पर सम्मुखदर्शी मुद्रा में बैठे हैं। सिंह के पृष्ठ-भाग पर स्थित पूँछें ऊपर की ओर उठी प्रदर्शित हैं और व्याल उसके विस्तृत सीने के ऊपर गर्व से लहरा रहे हैं (फलक 20)। किन्नर, एक ऐसी संकल्पना है जिसके शरीर का अगला भाग मानव और पृष्ठ भाग पक्षी का होता है। हिमालय पर वास करने वाले किन्नर मानव-जाति के कुशल-क्षेम को जानने के लिए सतह पर आते थे। शरीर के अग्रभाग के पुरुष होने पर इन्हें किन्नर और नारी के होने पर किन्नर कहा जाता है। पिलाक में एक किन्नर को नभ से हाथ में फल लिए उतरते देखा जा सकता है। किन्नर के सिर पर घने केश एक अलंकृत पट्टिका के अन्दर बँधे हुए हैं पर गर्दन के पीछे वे खुले हुए पवन के आवेग में लहरा रहे हैं। उसने कानों में भारी कुंडल धारण कर रखे हैं और ग्रीवा में एक हार पहन रखा है जिसका मध्य भाग ठीक उसके वक्ष के मध्य भाग में स्थित है (फलक 21)।

पिलाक की मूर्तिकला में अंकित समसामयिक जीवन

पिलाक में कई ऐसे भी चित्रण प्राप्त हुए हैं जिनमें धर्मेतर दृश्यों का अंकन बड़ी संख्या में हुआ है। इन अंकनों के आधार पर समसामयिक समाज के जन-जीवन की कतिपय गतिविधियों और क्रिया-कलापों को देखा जा सकता है। पंचतंत्र के मित्रभेद प्रकरण में दी गई कीलोत्पाटि वानर कथा में, जिसमें एक उद्दंड वानर के अपने दुस्साहस और दुष्टता के कारण जान गवाँ देने की कथा को चित्रित किया गया है।[18] यहाँ कथा में उल्लिखित दुष्ट वानर को, मंदिर निर्माण के उपक्रम में मैदान में कटाई के अनंतर छोड़े गए काष्ठ-खंड में फंसाई गई किल्ली को निकालने की धृष्टता में अपनी वृष्णि को छुड़ाने की असफल चेष्टता करते देखा जा सकता है (फलक 22)। अन्यत्र दो

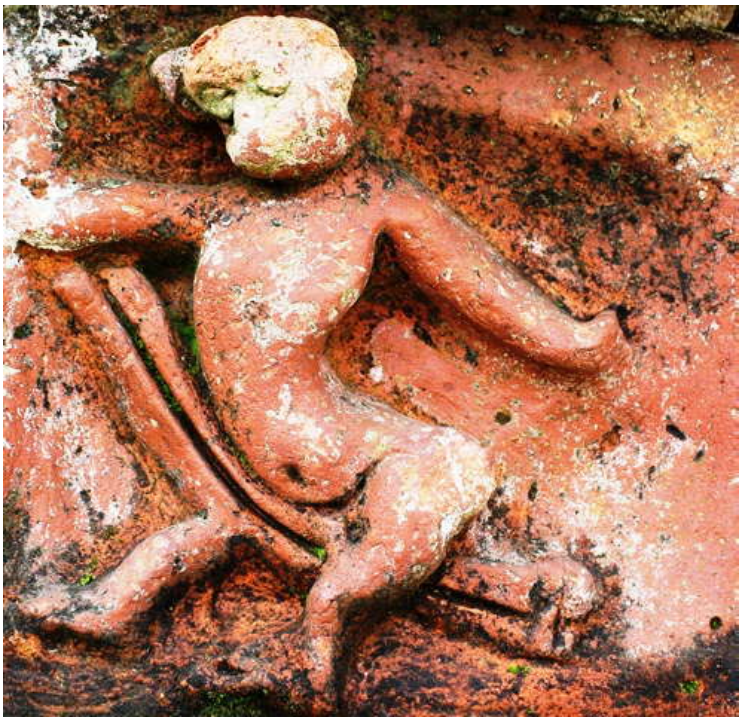

नर्तकियों को अपने हाथ में कुछ सामग्री (वाद्य) लिए अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन (फलक 23) और एक ढोल-वादक को ढोल को बजाते और इसी क्रम में नृत्यरत देखा जा सकता है (फलक 24)।

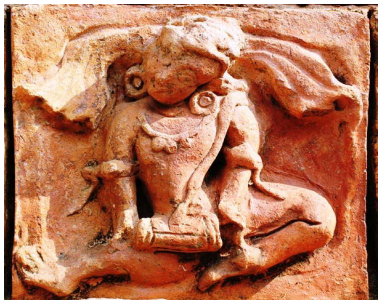

उपरोक्त के अतिरिक्त पिलाक में अनेक ऐसे अंकन मिले हैं जो इस क्षेत्र की जैव-विविधता को दर्शाते हैं और यह घरेलू से लेकर पालतू तक हैं। इस क्रम में पहला उल्लेख एक बछड़े को दुग्ध-पान कराते हुए गाय से किया जा सकता है (फलक 25)।

इस अंकन में बछड़े को गाय के पैरों के मध्य अपना मुँह घुसाकर थान से दूध पीते देखा जा सकता है। हालाँकि इस सन्दर्भ में गाय का जिस तरह से अंकन हुआ है, वह कलात्मकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता और गाय तथा बछड़े की पहचान करने में समस्या उत्पन्न करता है। इसी तरह के एक और अकुशलता पूर्वक किए गए अंकन में एक बिल्ली को अपने हाल में शिकार किए गए चूहे को अपने मुँह में लेकर आराम से खाने के लिए ले जाते हुए प्रदर्शित किया गया है (फलक 26)।

त्रिपुरा का यह भूभाग पहाड़ी की तलहटी में स्थित मैदानी भाग है। इस कारण यहाँ बहुतायत में सर्प देखे जाते हैं और अपनी पारस्परिक जीविका के लिए प्रतिस्पर्धारित नेवलों के साथ इनका द्वंद्व भी होता है, जिसकी परिणति प्रायः साँप की मौत के रूप में होती है। ऐसे एक दृश्यांकन में साँप और नेवले की लड़ाई को दिखाया गया है। यहाँ साँप नेवले को अपनी कुंडली में बाँधकर मरने के लिए प्रयासरत है, लेकिन उसके इस प्रयास को निष्फल करता हुआ नेवला अपने को उसके कुंडली-पाश से मुक्त कर, उसे ही शिकार बनने को आतुर चित्ररत हुआ है (फलक 27)। इसी तरह की स्पर्धा के निहितार्थ दो पालतू हाथियों को आमने-सामने लड़ाई के लिए तैयार होते हुए अंकित किया गया है। इस हस्ति-द्वय की पीठ पर रस्सों के मध्य गद्दियाँ बँधी हुई है जो इनके राजकीय होने की द्योतक है। दोनों हाथी अपने अगले पैरो को मोड़ हुए अपने विशाल दाँत ताने हुए एक-दूसरे पर आक्रमण को तत्पर चित्रित हुए हैं (फलक 28)। पिलाक से गले में रास बँधे हुए कुत्तों के अनेक अंकन मिले हैं जो इनके पालतू होने के द्योतक हैं। इनके अतिरिक्त भरे हुए विविध प्रकार के कलश, स्वच्छ जल में विचरण करते हुए हंस, वन में शिकार खोजते सिंह, मत्स्य-युग्म और जल में निस्सरित होते कमल के भी अंकन मिले हैं। इस तरह के अंकन जहाँ इस क्षेत्र की जैव-विविधता को दर्शाते हैं वहीं इनके आनुष्ठानिक महत्त्व को भी पुष्ट करते हैं।

भारत के पूर्वोत्तर में स्थित त्रिपुरा राज्य का पिलाक पुरास्थल धार्मिक-समन्वय, जो कि भारतीय संस्कृति की अंतरात्मा है, को समझने में कई तरह से सहायक है। पिलाक की कला में अन्तर्निहित कलात्मक दृश्यांकन और उनके निहितार्थ, यह सिद्ध करने के लिए निस्संदेह पुष्ट आधार उपलब्ध कराते हैं जिससे पूर्वोत्तर भारत और शेष

भारतीय भूभाग के मध्य सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक आधार पर कोई भेद देखने को नहीं मिलता। इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों के द्वारा ऐसी कोई भी धारणा निर्मूल सिद्ध हो जाती है, जो यह प्रशस्त करे कि इस क्षेत्र को सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान देने का श्रेय पाश्चात्य विद्वानों और मिशनरियों को जाता है। इस पुरास्थल से अन्वेषित और उत्खनित कलाकृतियों के माध्यम से बौद्ध धर्म विषयक कई पहलुओं को उद्घाटित करने में सहायता मिलती है। इनसे भारतीय सन्दर्भ में पूर्व-मध्यकाल को जिसे बौद्ध धर्म के पराभव के लिए कुख्यात माना जाता है, को मिथ्याधारणा सिद्ध करने के लिए समुचित पुरातात्त्विक आधार मिलता है। वस्तुतः इस कालक्रम और इस क्षेत्र में बौद्ध पुरास्थलों में बौद्ध धर्म की महायान शाखा और इससे उत्पन्न वज्रयान और ब्राह्मण धर्म के तांत्रिक संप्रदाय से प्रभावित अनेक कलात्मक तत्त्व मिलते हैं जो एक पल के लिए इनकी बौद्ध पहचान को संदिग्ध कर देते हैं। संभवतः यही कारण है की बौद्ध स्थलों में ब्राह्मण धर्म विषयक अभिप्रायों की बढ़ती संख्या को देखकर इस बात का भ्रम हो जाता है कि इस काल तक भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का पतन हो गया। जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं थी और इस समय तक इस क्षेत्र विशेष में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के समन्वय और सह-अस्तित्व से, कला और धर्म दोनों ने एक संश्लिष्ट आकार ले लिया था, जिसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। इस कलात्मक और ध ार्मिक धारा ने न केवल भारत के पूर्वोत्तर वरन पूर्व में स्थित ब्रह्मदेश को भी प्रभावित किया। यही कारण है कि भारतीय भूभाग में इस्लामी आक्रमणों और अनाचार के कारण जब बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के अस्तित्व पर आघात हुए, तब कला और धर्म के इसी संश्लिष्ट और समेकित स्वरूप ने निकटवर्ती पूर्वी-एशियाई देशों में अपने को विलुप्त हो जाने से बचाए रखने में सफलता पाई।

सन्दर्भ

1. मणि, बी. आर., एस. सी. सरण (संपा.), बुद्धिस्ट साइट्स इन नॉर्थ ईस्ट इण्डिया, एस. जमाल हसन और बिमल सिन्हा, पुराभारती-स्टडीज इन अर्ली हिस्टोरिकल आर्कियोलोजी एंड बुद्धिज्म, कॉमेमोरेटिव वॉल्यूम इन रेस्पेक्ट टू प्रो. बी. पी. सिन्हा, दिल्ली, 2006, पृष्ठ-424
2. गुप्ता, परमेश्वरी लाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग 2, ''समतट-डवाक-काम रूप-नेपाल-कर्तपुरादि-प्रत्यन्त...दानाज्ञाकरण प्रणामागमन।'' वाराणसी, 2013, पृष्ठ-9
3. चट्टोपाध्याय, सुनीतिकिरात जनकृति, पूर्वे किरात यस्य सः, पश्चिमे यवनारू स्थितिरूब्राह्मणाः क्षत्रिय वैश्य मध्ये शुद्रा स च भागवाह, एशियाटिक सोसाइटी, कोलकाता, 1951, पृष्ठ-34

4. मणि, बी. आर., एस. सी. सरण (संपा.), रीसेंट एक्सकेवेशन ऑफ क्रुसिफोर्म बुद्धिस्ट रिमेंस एट पिलाक-साउथ त्रिपुरा, जी. सी. चौले, पुराभारती-स्टडीज इन अर्ली हिस्टोरिकल आर्कियोलोजी एंड बुद्धिज्म, कॉमेमोरेटिव वॉल्यूम इन रेस्पेक्ट टू प्रो. बी. पी. सिन्हा, दिल्ली, 2006, पृष्ठ-443
5. मणि, बी. आर., एस. सी. सरण (संपा.), बुद्धिस्ट साइट्स इन नॉर्थ ईस्ट इण्डिया, एस. जमाल हसन और बिमल सिन्हा, पुराभारती-स्टडीज इन अर्ली हिस्टोरिकल आर्कियोलोजी एंड बुद्धिज्म, कॉमेमोरेटिव वॉल्यूम इन रेस्पेक्ट टू प्रो. बी. पी. सिन्हा, दिल्ली, 2006, पृष्ठ-425
6. मणि, बी. आर., एस. सी. सरण (संपा.), रीसेंट एक्सकेवेशन ऑफ क्रुसिफोर्म बुद्धिस्ट रिमेंस एट पिलाक-साउथ त्रिपुरा, जी. सी. चौले, पुराभारती-स्टडीज इन अर्ली हिस्टोरिकल आर्कियोलोजी एंड बुद्धिज्म, कॉमेमोरेटिव वॉल्यूम इन रेस्पेक्ट टू प्रो. बी.पी. सिन्हा, दिल्ली, 2006, पृष्ठ-443
7. आलम, मोहम्मद शफिकुल और मोहम्मद अब्दुल हाशिम मिआं, एक्सकेवेशन ऐट आनंद विहार, मैनामती, कोमिल्ला, (1979-82), ढाका, 2000, पृष्ठ-1
8. आलम, मोहम्मद शफिकुल, मोहम्मद अब्दुल हाशिम मिआं, तोफैल अहमद दिवान और मोहम्मद अब्दुल कादिर, एक्सकेवेशन ऐट रूपबन मुरा, मैनामती, कोमिल्ला, 2000, ढाका, पृष्ठ-1
9. वही-
10. मित्र, देबला, बुद्धिस्ट मोन्युमेन्ट्स, कोलकाता, 1971, पृष्ठ-238
11. जॉनस्टन, ई.एच. (संपा.), अश्वघोष बुद्धचरित, सर्ग प्रथम 4, 5, नई दिल्ली, 1995 पृष्ठ-2
12. कौसल्यायन, भ.आ. (संपा.), जातक, प्रथम भाग, अविदूरेनिदान, इलाहाबाद, 1994, पृष्ठ 63-65
13. सांकृत्यायन, राहुल, (संपा.), विनयपिटक, महावग्ग, कौशाम्बकस्कंधक, परिलेय्यक (4), 1994
14. महर्षि वाल्मीकि, रामायण, भुयस्तु शर्मुधत्य कुपित्स्तत्र राघवः, सूर्यरश्मिप्रतीकाशम लंतमरिमदेनंसंघाय सुदृढे चापे विकृष्य बल्वदबली, तमेव मृगमुदृश्य श्वसंतामिव पन्नगममुमोच ज्वलितं दीप्तमस्तरम ब्रह्मविनिर्मितम, ॥13-14॥ अरण्यकाण्ड, गोरखपुर, संवत 2073, पृष्ठ 488
15. महर्षि वाल्मीकि, रामायण, मेरुमंदरसंकाशानुद्गतान सुम्भ्रारणवे, अत्यक्रामन्महावेग-स्तरन्गान गणयन्निव, ॥72॥, सुंदरकाण्ड, गोरखपुर, संवत 2073, पृष्ठ 22
16. महर्षि वाल्मीकि, रामायण, स तं समुत्पाटय खमुत्पयात, वित्रास्य लोकान सखुरारासुरेंद्रान, संस्तूयमानः खचरैरनेकै, जर्गाम वेगाद गरुडोगरवेगः ॥68॥ युद्धकाण्ड, गोरखपुर, संवत 2073, पृष्ठ 488

17. महर्षि वाल्मीकि, रामायण, ततः सुतुमुलं युद्धं बालिसुग्रीव्योरभूत, गणने ग्राह्योर्धोरम बुधान्गर्कयोरिव, ॥17॥, किष्किन्धाकाण्ड, गोरखपुर, संवत 2073, पृष्ठ 780
18. योगी, भारतीय (अनु.), श्री विष्णु शर्मा रचित पञ्चतंत्र, केनापि वणिक्पुत्रेण तरुखण्डमध्ये देवतायतनं कर्तुमारब्धम् । तत्र च ये कर्मकराः स्थापनादयस्ते मध्याह्नवेलायामाहारार्थं नगरमध्ये गच्छन्ति । अथ कदाचित् तत्रानुषङ्गिकं वानरयूथमितश्चे-तश्च परिभ्रमदागतम् । तत्रैकस्य कस्यचिच्छिल्पिनोऽर्धस्फाटितो-ऽञ्जनवृक्षदारुमयः स्तम्भः खदिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति । एतस्मिन्नन्तरे ते वानरास्तरुशिखरप्रासादशृङ्ग-दारुपर्यन्तेषु यथेच्छया क्रीडितुमारब्धाः । एकश्च तेषां प्रत्यासन्नमृत्युश्चापल्यात्तस्मिन्नर्धस्फोटितस्तम्भ कस्मिंश्चिन्नगराभ्यासे उपविश्य पाणिभ्यां कीलकं संगृह्य यावदुत्पादयितुमारेभे तावत्तस्य स्तम्भमध्यगतवृषणस्य स्वस्थानाच्चलितकीलकेन यद्वृत्तं तत्प्रागेव निवेदितम् । अतोऽहं ब्रवीमि - अव्यापारेषु इति । आवयोर्भक्षितशेष आहारोऽस्त्येव । तत् किमनेन व्यापारेण । दमनक आह तत् किं भवानाहारार्थी केवलमेव । तन्न युक्तम् । कीलोत्पाटिवानरकथा, ॥मित्रभेद, प्रथम कथा॥, बरेली, 1991, पृष्ठ 22-23

गुरु नानक का समाज-सुधारक रूप

मनमीत कौर*

नानक के बारे में एक कहावत प्रचलित है–

''बाबा नानक शाह फकीर, हिंदू का गुरु मुसलमान का पीर।''

कहा जाता है कि गुरु नानक को पढ़ने और समझने के लिए 'सिख' होना जरूरी नहीं, जो उन्हें पढ़ता है, समझता है, वही 'सिख' हो जाता है। गुरु नानक या बाबा नानक प्रेम, शांति, एकता, समन्वय, सदाचार, संयम, सौहार्द और सदभावना के प्रतीक थे जो अपनी मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण आज भी सभी धर्मावलम्बियों में प्रशंसनीय एवं सम्मानीय हैं। उनके उदात्त संदेश आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उनके अपने समय में थे।

गुरु नानक (1469-1539) का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब सम्पूर्ण उत्तर भारत मुगलों के अत्याचारों से पीड़ित था। पहले बहलोल लोदी, सिकंदर लोदी, इब्राहिम लोदी तत्पश्चात् बाबर और हुमायूँ के शासन ने आम जनता में त्राहि मचा रखी थी। ये सभी विदेशी शासक थे जिनका मुख्य उद्देश्य भारत पर शासन करना और उसे लूटना था। चूँकि दिल्ली का मार्ग पंजाब से होकर गुजरता था, अतः इन आक्रमणकारियों के सर्वाधिक शिकार पंजाब प्रांत के लोग ही हुए। कुल मिलाकर वह युग शोषण, बर्बरता और अत्याचार का युग था। दीन-दुखियों के आँसू पोंछने वाला कोई नहीं था। ऐसे समय में गुरु नानक का आविर्भाव किसी युगांतकारी घटना से कम नहीं था। 'सतगुरु नानक परगटिया मिटी धुंध जग चानणु होआ' के अनुसार गुरु नानक के आविर्भाव से संसार में अज्ञान का अंधकार मिट गया और चहुँ ओर ज्ञान

*डॉ. मनमीत कौर, सहायक प्राध्यापिका (हिन्दी विभाग), द ग्रैजुएट स्कूल कॉलेज फॉर वीमेन, जमशेदपुर, कोल्हान विश्वविद्यालय (झारखंड) के अंतर्गत। पता : द्वारा श्री दर्शन सिंह, बमनडीहा, डाकघर के सामने, पो.ओ. सुन्दरचक, जिला–बर्दवान, पश्चिम बंगाल-713360; मो. 08436798282, ई-मेल : manmeet630@gmail.com

का, सत्य का प्रकाश फैल गया। वे सच्चे अर्थों में गरीबों एवं शोषितों के मसीहा थे। कठोर शासकों के अत्याचार का शिकार बनी दीन-हीन जनता की स्थिति देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठता था। ऐसे में बाबा नानक उनके पथ-प्रदर्शक बने। 'श्री गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित उनकी वाणी के अनेक ऐसे उद्धरण हैं जो साधारण जन के प्रति करुणा एवं वैचारिक क्रांति से उद्‌भूत हुई सहानुभूति को दर्शाते हैं।

'श्री गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित रचनाएँ गुरु नानक की प्रसिद्ध रचना 'जपु जी' से आरंभ होती है। इसमें वे लिखते हैं, 'एक ओंकार, सतिनामु, करता पुरखु, निरभउ, निरवैरू, अकाल मूरति, अजूनी सैभं, गुरु प्रसादि।' अर्थात् ईश्वर मात्र एक है, उसका नाम सत् है, वह सर्वव्यापक रचयिता है, निर्भय है, निर्वैर है, उसका अस्तित्व काल से अप्रभावित है, वह कभी जन्म नहीं लेता, स्वम्भू है, (और उसकी उपलब्धि) गुरु की कृपा से संभव है। इस प्रकार, एक ईश्वरवाद द्वारा गुरु नानक ने सम्पूर्ण मानव जाति में भाईचारे का संदेश दिया। वैसे तो यह 'सिखों' का मूल-मंत्र है किंतु आज जब हम लोगों को जातिगत-भेदभाव (ऊँच-नीच, दलित, हिंदू-मुस्लिम, शिया-सुन्नी जैसे मुद्दों) पर लड़ते-झगड़ते देखते हैं तो हमें बाबा नानक के इस मंत्र की सार्थकता और आवश्यकता समझ में आती है और तब लगता है कि यह तो सम्पूर्ण मानव-जाति का मूल-मंत्र होना चाहिए, क्योंकि जब हम सबको एक ईश्वर की उत्पत्ति मानेंगे तब झगड़े तो स्वतः ही समाप्त हो जाएँगे।

गुरु नानक के एक ईश्वरवाद की भावना को पुष्ट करती हुई उनकी कुछ और पंक्तियाँ हैं–

1. ''साहिब मेरा एको। एको है भाई एको है।''
2. ''सबना जीआँ का एक दाता।''
3. ''एक पिता, एक के हम बारिक।''

इस प्रकार, गुरु नानक ने सभी को एक ईश्वर की संतान कहकर समाज में फैली हुई पंडितों, कठमुल्लाओं, ब्राह्मणों, काजियों की इजारादारी समाप्त कर धर्म को मंदिर-मस्जिद की दीवार से आजाद कर दिया। उन्होंने कभी-भी सम्प्रदाय, वर्ण, जाति, देश आदि के आधार पर मानव-जाति का वर्गीकरण नहीं किया। वे लिखते हैं–

1. ''सबको ऊँचा आखिऐ, नीचु ना दीसै कोई।
   इकने भाँडे साजिऐ, इकु चानणु तिहु लोई।
2. ''ना को वैरी, नाहि बेगाना, सगल संग हमको बन आई।''
3. ''नानक उत्तम नीच ना कोई।''

यह कहकर गुरु नानक ने जातीय एकता स्थापित की। उन्होंने एक जातिविहीन तथा वर्गहीन समाज के निर्माण की चेष्टा की, जिसमें कोई शोषण न हो और सभी समान समझे जाएँ। उनका स्पष्ट मानना था कि मनुष्य जाति से नहीं बल्कि अपने

कर्मों से नीच होता है। अपने निजी उदाहरणों से उन्होंने लोगों को भाइयों की तरह एक साथ मिलकर रहना सिखाया। भारतीय समाज में दलितों को शुरू से ही अपमानित और प्रताड़ित किया गया है। उन्हें सम्मान देने और दिलाने के उद्देश्य से गुरु नानक ने उन्हें अपने साथ तथा स्वयं को उनके साथ जोड़ा, अपनी संगत और पंगत में उन्हें अपने साथ बिठाया और खिलाया। कहा जाता है कि गुरु नानक ने ऊँची जाति के एक अमीर मलिक भागो के शाही व्यंजन को ठुकराकर एक दलित बढ़ई भाई लालो की सूखी रोटी खाई और डंके की चोट पर कहा कि अगर नीच से नीच और उस नीच से भी नीच कोई जाति है तो नानक उनके साथ हैं। सिखों में आज भी यह परंपरा चली आ रही है। उनके गुरुद्वारे में आज भी ऊँच-नीच सभी जाति के लोग साथ बैठकर एक ही प्रकार का भोजन करते हैं। सम्पूर्ण मानव-जाति में निष्ठा एवं आस्था का यह अद्वितीय उदाहरण है, जहाँ कोई भेदभाव नहीं। जहाँ मनुष्य केवल मनुष्य है, ईश्वर की सुंदर कृति। वर्तमान में भी इस बात की आवश्यकता जान पड़ती है कि ईश्वर की इस सुंदर कृति का आदर एवं सम्मान किया जाए।

आज से कई सौ वर्षों पहले गुरु नानक जी के समय में स्त्रियों को पुरुषों से नीचा समझा जाता था, उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था, उस समय गुरु नानक ने, 'सो किउ मंदा आखिऐ, जितु जंमहि राजान।' कहकर स्त्री को गौरवशाली पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। स्त्री को गृहस्थ जीवन का आधार बताकर उसे पुरुष के समान अधिकार दिया। उन्होंने तर्क दिया कि जिस स्त्री ने वीर राजाओं को जन्म दिया है, वह स्त्री भला नीच कैसे हो सकती है। उन्होंने विधवाओं एवं सती क्रियाओं की आलोचना की। उनके यहाँ स्त्रियाँ निर्बाध रूप से उनकी धार्मिक संगतों में शामिल होती थीं। वे स्वयं अपनी पत्नी (सुलक्खणी जी) तथा बहन (बीबी नानकी) का बहुत आदर एवं सम्मान करते थे। यदि हम सिखों का गौरवशाली इतिहास उठाकर देखें (जिसमें उन्होंने मुगलों से सीधी टक्कर ली थी), तो पाएँगे कि मुगलों से टक्कर लेने वालों में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों की भी सहभागिता थी। चाहे युद्ध का मैदान हो या राजनीतिक मामलों में सलाह देनी हो, स्त्रियों ने पुरुषों को बराबर सहयोग दिया। यह सब गुरु नानक की दी हुई शिक्षा का ही परिणाम था। आज अफसोस के साथ कहना पड़ रहा है कि यदि हमने गुरु नानक जैसे महापुरुषों की शिक्षाओं का अनुमोदन किया होता, शूरवीर स्त्रियों का सम्मान किया होता तो आज हमें 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' जैसी थीम की आवश्यकता ही न पड़ती।

वर्तमान युग की तरह उस युग में भी समाज में आम भिखारियों के अतिरिक्त कई ऐसे ढोंगी, पाखंडी साधु-संन्यासी भरे पड़े थे जो स्वयं को गुरु और पीर कहते, आम जनता से अपने अपने पाँव पर माथा टिकवाते और माँगकर खाते थे। गुरु नानक ने ऐसे लोगों को 'निर्लज्ज' कहा। वे कहते हैं, 'घरि-घरि माँगत लाज न लागै।' आज

भी समाज में ऐसे ढोंगियों की कमी नहीं है जो भोली-भाली जनता को ठगकर अपनी दुकान चला रहे हैं। गुरु नानक ने सदा मेहनत की कमाई करने, खाने और उस कमाई का कुछ हिस्सा देकर जरूरतमंदों की मदद करने पर जोर दिया। वे माँगकर खानेवालों की कड़ी आलोचना करते हैं। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की अमानवीय प्रवृत्ति की भी उन्होंने जमकर आलोचना की है। 'जो रतु पीवहि माणसा तिन कउ निरमलु चीतु।' कहकर गुरु नानक ने इसे मानव का खून पीने की राक्षसी प्रवृत्ति के समान बताया और कहा कि शोषण करने वाले मनुष्य का हृदय कभी पवित्र नहीं हो सकता।

आज जब मानव समाज आए दिन किसी-न-किसी प्रदूषण का शिकार हो रहा है। चारों ओर वायु का खतरा मँडरा रहा है, पानी का संकट चारों ओर फैला हुआ है (अब तो यहाँ तक कहा जा रहा है कि तीसरा विश्वयुद्ध पानी को लेकर ही होगा) , धरती के सारे प्राकृतिक संसाधन समाप्त होते जा रहे हैं, जैव-वैविध्य नष्ट हो रहा है। दुनिया के सभी वैज्ञानिक, सरकारें एवं संस्थाएँ धरती, वायु, जल को बचाने की अपील कर रहे हैं। ऐसे में गुरु नानक ने तो पाँच सौ वर्ष पूर्व ही पवन को गुरु, पानी को पिता एवं धरती को माता का सर्वोच्च सम्मानजनक दरजा देकर सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक अमर संदेश छोड़ दिया कि इनका सम्मान तथा संरक्षण तुम्हें वैसे ही करना है जैसे माँ, बाप, गुरु का किया जाता है–

''पवन गुरु पाणी पिता माता धरती महतु।
दिवसु राति दुई दाई दाइया खेलै सगल जगतु॥''

इस प्रकार गुरु नानक जीवन पर्यन्त सामाजिक अन्याय, अत्याचार, तमोगुण, स्वार्थपरायणता, संकीर्णता, पाखंड, रूढ़िवादिता, शोषण-प्रवृत्ति से जूझते रहे। उनके द्वारा निर्मित समाज में सभी को समान भाव से जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी गई। इस समाज में जन्म, जाति, धर्म, लिंगभेद के कारण किसी व्यक्ति को अन्य लोगों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए कोई स्थान नहीं है। समाज के सभी व्यक्ति को दूसरों की सुविधा एवं कल्याण की भावना रखनी चाहिए। समाज के सुंदर स्वरूप को युद्ध, शोषण, दमन, अत्याचार, कुशासन, भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, कूटनीति, स्वार्थ-परायणता, विदेशी आधिपत्य द्वारा कुत्सित और विकृत नहीं बनाना चहिए। जिन सुधारों का गुरु नानक ने प्रतिपादन किया, वे आज के इस वैज्ञानिक युग में आदर्श रूप में सोचे जा रहे हैं। समाज में कहीं-न-कहीं आज भी वैसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जिनके चारित्रिक एवं नैतिक उत्थान के लिए गुरु नानक के ये संदेश आज भी प्रासंगिक हैं। उनकी शिक्षाएँ युग विशेष या काल विशेष तक सीमित नहीं रहीं। वे सर्वकालीन हो गई हैं। उनकी शिक्षाएँ वैज्ञानिक होने के कारण, सभी युगों और कालों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। जैसे-जैसे विज्ञान की उन्नति और प्रगति

होती जाएगी, गुरु नानक की शिक्षाओं का महत्त्व और अधिक बढ़ता जाएगा। अंततः गुरु नानक को उनकी शिक्षाओं के लिए सदैव याद किया जाएगा। उनकी शिक्षाओं एवं वाणियों का जो कोई अनुसरण करेगा, उसका सदैव कल्याण होगा। शायद इसीलिए कहा गया है—

''नानक नाम चड़दी कला, तेरे भाणे सरबत दा भला।''

संदर्भ सूची

1. जयराम मिश्र, गुरु नानकदेव (जीवन और दर्शन), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2012
2. सं.- गुरमुख निहाल सिंह, गुरु नानक (जीवन, युग एवं शिक्षाएँ), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण-1970
3. जगजीत सिंह, सरल गुरु ग्रंथ साहिब, विद्या विहार, नई दिल्ली, संस्करण-2001
4. सं.- शमीम शर्मा, पंचनाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008

शशि थरूर के आरोप : एक समीक्षा

शंकर शरण*

बादशाह अकबर के समय मुहावरा शुरू हुआ था : 'हिन्दू हाथों में इस्लाम की तलवार' जब अकबर ने राजपूतों से समझौता कर उन्हें अपने सैनिक साम्राज्य के बड़े पदों पर रखना शुरू किया। जिन राजपूतों ने चाहे-अनचाहे वह पद स्वीकार कर लिया, तो अकबर की ओर से उन्हें हिन्दू राजाओं के विरुद्ध भी लड़ने जाना ही होता था। इस प्रकार, जिस इस्लामी साम्राज्यवाद के विरुद्ध पिछली आठ सदियों से हिन्दू लड़ते रहे थे, उसमें पहली बार विडंबना जुड़ी कि इस्लाम की ओर से तलवार उठा, कुछ हिन्दू भी आ गए।

वह परंपरा अभी तक चली आ रही, बल्कि मजबूत हुई है। गत सौ साल से भारत के आम गाँधी-नेहरूवादी, सेक्यूलर, वामपंथी हिन्दू वही काम करते रहे हैं। यह हिन्दू धर्म-समाज के लिए अधिक घातक रहा है। इस बीच, वह ऐतिहासिक साम्राज्यवाद इंच-इंच भारत को निगलता जा रहा है।

यह काम इतना नियमित और सफलतापूर्वक चलता रहा है कि आज इस मुहावरे का प्रयोग भी मीडिया या बुद्धिजीवियों में वर्जित है। यहाँ मीडिया और बौद्धिक जगत तीन चौथाई से अधिक हिन्दुओं से भरा होकर भी हिन्दू धर्म-समाज को मनमाने लांछित, अपमानित करता है। किन्तु इस्लामी साम्राज्यवाद, मतवाद या समाज के विरुद्ध एक शब्द बोलने की अनुमति नहीं देता। वही हाल पाकिस्तान, बंगलादेश में है। हिन्दू धर्म यहाँ-वहाँ दोनों जगह लांछित होता है, जबकि इस्लाम वहाँ-यहाँ दोनों जगह आलोचना से परे है।

बहरहाल, यहाँ ऐसे ही एक योद्धा शशि थरूर हैं। वे एक विद्वान हैं, और उन की धार का सानी नहीं। किन्तु उनकी संपूर्ण शिक्षा में किसी हिन्दू परंपरा की कोई झलक नहीं है। अपने सामाजिक, राजनीतिक विचारों में वे नेहरूवादी, वामपंथी विचारों

* प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र, राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली-110016, ई-मेल : hesivh@gmail.com

से पक्की तौर पर बँधे रहे हैं। भारतीय ज्ञान-परंपरा के प्रति आदर रखने के बावजूद उनमें हिन्दू इतिहास के बारे में घोर अज्ञान है। अन्यथा, वे राजनीतिक कारणों से जान-बूझकर हिन्दू-विरोधी बयान दे रहे हैं।

वे इस्लाम और हिन्दू धर्म को समान रूप से 'रिलीजन' मानते हैं। जबकि भारतीय अर्थ में धर्म का वह अर्थ बिलकुल नहीं है, जिसे यूरोप और अरब में रिलीजन कहा जाता है। इसीलिए, पाकिस्तान में 'एक रिलीजन के वर्चस्व' से जो परिणाम हुआ, वही भारत में केवल हिन्दू धर्मावलंबियों के वर्चस्व से हो जाएगा, थरूर का यह बयान हास्यास्पद है।

पहली बात तो यह कि मौलाना बुखारी से लेकर मुशीर उल हक तक अनेक मौलाना, मुस्लिम विद्वान, राजनयिक, आदि भी मानते रहे हैं कि वर्तमान भारत में भी हिन्दू वर्चस्व के कारण ही सेक्यूलरिज्म है; अन्य धर्मावलंबियों का सम्मानजनक अस्तित्व है। दूसरे, थरूर यह सामान्य तथ्य भुलाते हैं कि सदियों पहले, जब भारत में केवल हिन्दू थे—तभी यह देश धन-वैभव ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान-कला-संस्कृति, हर क्षेत्र में विश्व में अग्रणी था। साथ ही, दुनिया में कहीं भी उत्पीड़ित होते लोगों के लिए उदार शरण-स्थली भी था। यहूदी, पारसी, बौद्ध, आदि कितने ही उत्पीड़ित समूहों को हिन्दू भारत ने शरण दी थी। इसकी तुलना में अरब, अफ्रीका, एशिया में किस मुस्लिम देश ने अपने भी देश के ईसाइयों, यहूदियों, बौद्धों को जिन्दा तक रहने या अपने धर्म के साथ रहने दिया?

इसीलिए, कोई शत-प्रतिशत हिन्दू राष्ट्र उसका ठीक विपरीत होगा, जिसका भय थरूर दिखा रहे हैं। यह इतिहास और वर्तमान दोनों से प्रमाणित है।

थरूर के अनुसार, भारत ने 'एक रिलीजन के वर्चस्व का सिद्धांत' स्वीकार नहीं किया। किन्तु 1947 में यही तर्क गाँधीजी और कांग्रेस ने स्वीकार किया गया था। बल्कि उसे भारत वाले हिस्से में लागू न करने से ही फिर वही समस्याएँ खड़ी होने लगीं जिनके समाधान के लिए रिलीजन-आधारित पाकिस्तान माना गया था। विभाजन के बाद भारत में मुसलमान न रहें, यह जिन्ना ही नहीं, डॉ. अंबेदकर ने भी कहा था। उसे न मानना बड़ी भूल थी, यह साफ प्रमाणित हुआ।

'भाजपा-आरएसएस के हिन्दू राष्ट्र' को 'पाकिस्तान का मिरर-इमेज' कहना भी थरूर की हवाई कल्पना है। भाजपा के किसी दस्तावेज, या नेताओं के किसी भाषण में हिन्दू राष्ट्र का उल्लेख तक नहीं है। उसकी कोई रूप-रेखा तो दूर की बात। वस्तुतः, भाजपा से भी पहले, जनसंघ के समय से ही उनकी पूरी ताकत और बुद्धि अपने को 'बेहतर सेक्यूलर' साबित करने में लगी रही है। यह जगजाहिर है कि उन के सर्वोच्च नेता अटल बिहारी वाजपेयी के आदर्श जवाहरलाल नेहरू थे, और उन्होंने अपने संपूर्ण कैरियर में उसी को चरितार्थ किया। भाजपा की वह नीति आज भी नहीं बदली है। वह तमाम कांग्रेसी नीतियों को ही, पर 'अधिक ईमानदारी' से लागू करती रही है।

इसका एक भी सैद्धांतिक-व्यावहारिक अपवाद नहीं रहा है। इसलिए, लोकसभा, राज्यसभा में भरपूर बहुमत होने के बाद भी इसका कोई अंदेशा नहीं है कि भाजपा अपनी परंपरा छोड़ेगी। किसी भी जमे-जमाए राजनीतिक दल का अपना एक स्वभाव, परंपरा, प्रशिक्षण होता है। उसमें कोई भी बुनियादी परिवर्तन लगभग असंभव होता है। पूरी दुनिया में, सौ वर्ष के दलीय इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है।

फिर, जिस दल को 'हिन्दू राष्ट्र' बनाना हो, उसे यही कहने में कोई सैद्धांतिक, नैतिक, सांविधानिक बाधा नहीं है। इसलिए भाजपा के नेता ऐसा एकाएक कर डालेंगे, यह शेखचिल्ली या बचकानी कल्पना है। चाहे ऐसा उसके समर्थक या विरोधी जो भी सोचते हों।

जहाँ तक भारतीय संविधान को बदलने या संशोधित करने की बात है, तो स्वयं संविधान निर्माता डॉ. अंबेदकर ने 2 सितंबर 1953 और 19 मार्च 1955 को, दो बार, संसद में खड़े होकर स्पष्ट कहा था कि वे इस संविधान को जला देना चाहते हैं, क्योंकि 'जो मंदिर बनाया गया था उस पर देवताओं की बजाय राक्षसों ने कब्जा कर लिया है।' इसलिए, थरूर का संविधान को बदलने की बात को भयावह बताना हास्यास्पद है। यह मामूली दस्तावेज है जो जरूरत और राजनीतिक पद्धति के अनुसार बदलता है।

फिर, इस संविधान को तो स्वयं कांग्रेस ने 42वें संशोधन से ऐसा भयावह रूप से विकृत किया, जिससे इस देश में हिन्दू दूसरे दर्जे के नागरिक बना दिए गए। 'सोशलिज्म' और 'सेक्यूलरिज्म' ऐसी अवधारणाएँ नहीं थीं, जिनसे हमारे संविधान निर्माता अनजान थे। उन्होंने इसे संविधान में कोई स्थान नहीं दिया था। पर कांग्रेस ने तानाशाही के बल, जब विपक्ष जेल में बंद कर दिया गया और मीडिया पर सरकारी सेंसर था, उस समय इन दो धारणाओं को संविधान की प्रस्तावना में जोड़कर वस्तुतः कम्युनिस्ट-इस्लामी वर्चस्व का रास्ता बनाया।

आगे, थरूर 'हिन्दू फेथ' के जिस 'समाहितकारी' स्वभाव की बात करते हैं, वास्तव में वे उसे नहीं जानते। हिन्दू राज्य और 'थियोक्रेसी' दिन और रात की तरह विपरीत हैं, और एक साथ नहीं रह सकते। इसलिए, या तो उनका भय निर्मूल है या फिर वे जानबूझ कर मुसलमानों पर कांग्रेस के पक्ष में आने के लिए दबाव डालने के लिए अनर्गल बातें बोल रहे हैं।

थरूर भारत के स्वतंत्रता आंदोलन को 'दो प्रकार के' विचारों से संचालित रहा बताते हैं। एक, मुस्लिम लीग, दूसरे गाँधीवादी कांग्रेस। वस्तुतः एक तीसरा विचार भी था जो सबसे अधिक प्रभावशाली रहा था। वह था श्रीअरविन्द के नेतृत्व वाला 'स्वदेशी' (1905-09) , जिसने 'वन्दे मातरम्' का कौल दिया था। श्रीअरविन्द को ही 'भारतीय राष्ट्रवाद का पैगंबर' कहा गया था, जिस शीर्षक से कांग्रेस के अन्य विद्वान नेता कर्ण सिंह की पुस्तक भी है। उसी स्वेदशी-हिन्दू विचार ने भारतीय राष्ट्र को 'कुत्ते के भूँकने से सिंह की गर्जना' में बदल दिया था। 'वन्दे मातरम्' उसी का नारा था, जो

स्वतंत्रता प्राप्ति तक संपूर्ण भारत का निर्विवाद राष्ट्र-गीत भी बना रहा। याद रहे कि यही 'वन्दे मातरम्', न कि कोई गाँधीवादी नारा या 'सेक्यूलरिज्म' भारत को अनुप्राणित करता रहा था।

इसलिए, इस्लामवाद और गाँधी-नेहरूवाद के अलावा तीसरा स्वदेशी-हिन्दू विचार भी था। बल्कि उसी का सहारा गाँधी-नेहरू को मिलता रहा, यद्यपि उन्होंने इस के साथ अंततः धोखा किया। न केवल देश-विभाजन किया, बल्कि स्वतंत्रता मिलते ही उस राष्ट्र-गीत को ठुकरा दिया। यही कहकर नेहरू ने उसे छोड़ा कि उसे 'दूसरे' लोग पसंद नहीं करते, क्योंकि उसमें 'हिन्दू' ध्वनि है। इसलिए स्वतंत्रता आंदोलन में गाँधी-नेहरूवादी विचार को ही मुस्लिम लीग के विरुद्ध एक मात्र विचार बताना थरूर की भूल है।

विवेकानन्द की शिक्षा को भी थरूर सुविधापूर्वक विकृत कर रहे हैं। विभिन्नता का स्वीकार हिन्दू धर्म की विशेषता जरूर है। किन्तु उन्हीं विवेकानन्द ने यह भी कहा था कि ''हिन्दू धर्म से एक भी हिन्दू का मुसलमान या क्रिश्चियन बनना केवल एक हिन्दू कम होना ही नहीं, एक शत्रु बढ़ना भी है।'' इसलिए विभिन्नता का स्वीकार अधर्म को भी स्वीकार कर लेना नहीं है। किसी के द्वारा धर्मान्तरण, जुल्म, दंगे और विशेषाधिकार के दावों को स्वीकार कर लेना नहीं है। यदि थरूर अपने हिन्दू होने पर गर्व करते हैं, तो उन्हें दयानन्द, विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, श्रद्धानन्द, टैगोर तक विभिन्न हिन्दू मनीषियों के विचार और विशेषतः इसी धर्म-मजहब वाले मामलों में उन की शिक्षाएँ एक बार उलटकर देख लेनी चाहिए।

थरूर एक साथ नेहरूवादी और हिन्दू, दोनों नहीं हो सकते। उन्हें एक चुनना होगा, क्योंकि नेहरूवाद तमाम हिन्दू-विरोधी मतवादों के समुच्च्य से बना है।

यदि थरूर केवल राजनीति नहीं कर रहे, तो गाँधीजी वाली गलती दुहरा रहे है। उनकी बुनियादी भूल यह है कि वे हिन्दू धर्म और इस्लाम को समान रूप से धर्म मानते हैं। मानो किसी देश में केवल मुसलमानों का होना जितना भयावह होता है, उतना ही भारत में केवल हिन्दुओं का होना हो जाएगा!

सचाई बिलकुल सीधी और प्रामाणिक है। भारत हिन्दू-भूमि है। यहाँ के मुसलमान पिछली पीढ़ियों के हिन्दू ही हैं, जिन्हें इस्लामी उत्पीड़न से कभी मुसलमान बनना पड़ा था। वे आज भी मानसिक कैद में हैं। इसी रूप में हमें उनसे सहानुभूति है। पर यदि भारत हिन्दू-भूमि नहीं रहा, तो उनकी स्थिति भी बदतर होगी। देश-विदेश, इतिहास-वर्तमान की सारी तुलनाएँ यह दिखा सकती हैं। अतः भारत की हिन्दू पहचान को बचाना, इसकी रक्षा करना ही पहली प्रतिज्ञा होनी चाहिए। अन्यथा न तो इस्लामवाद की काट होगी, न यह देश बचेगा। यह कितना भी कड़वा कठिन लगे, किन्तु इस प्रतिज्ञा को घोषित-नीति बनाने में ही सभी समस्याओं की कुंजी है। अन्यथा सभी नेता और पार्टियाँ भारत को बचाने में विफल रहेंगे।

भारत में हिन्दू-विरोध अंततः राष्ट्र-विरोध है। इस सचाई को सेक्यूलर, वामपंथी, इस्लामी, ईसाई, बुद्धिजीवियों के सिवा देशी-विदेशी, मित्र-शत्रु, सभी जानते हैं। अतः भारतीय राष्ट्रवाद को हिन्दू-धर्म या हिन्दू समाज से अलग करके दिखाना या तो अज्ञान या राजनीतिक जालसाजी है।

जिसे भी भारत से प्रेम हो, उसे ठीक से जाँच-परख लेना चाहिए कि भारतीय राष्ट्रवाद में हिन्दू भाव होना इसका दोष नहीं, इसकी मूल शक्ति है! इसके बिना कम्युनिस्ट-माओवादी, इस्लामवादी-जिहादी और चर्च-मिशनरी इस देश को टुकड़े-टुकड़े कर आपस में बाँट लेंगे, यह निराधार आशंका नहीं है। यह तो उनकी पुरानी, घोषित योजनाएँ हैं, जिन्हें पिछले सौ वर्षों में कई बार प्रकट होते देखा जा चुका है। इस सचाई को छिपाकर कोई कितनी भी सद्भावना रखे, वह बचे-खुचे भारत को खतरे में डाल रहा है।

'हिन्दू पाकिस्तान' वाले बयान और लेख के बाद एक अन्य लेख में शशि थरूर ने लिखा कि भारत में गत चार सालों में सांप्रदायिक हिंसा बढ़ गई है, कि इस देश में आज ''एक मुसलमान की अपेक्षा एक गाय अधिक सुरक्षित है।''

ऐसे हमलों से हिन्दू धर्म-समाज पर ऐसी चोट पहुँचती है जिससे पीड़ित को ही उत्पीड़क बताना आसान हो जाता है। जो भारतवर्ष और हिन्दू समाज हजार साल से इस्लामी साम्राज्यवाद की मार झेल रहा है, उसे कोई सहयोग, सहानुभूति मिलना तो दूर, उसके अपने बच्चे उसे ही दुष्ट, हत्यारा बताएं, तो उसकी दुर्दशा का अनुमान भी संभव नहीं।

थरूर ने केवल वर्ष 2016 में 869 सांप्रदायिक दंगे होने की बात की है। पीड़ितों में वही तीन नाम लिए, जुनैद, अब्बास और अखलाक जो हमारे बड़े-बड़े पत्रकारों, और बुद्धिजीवियों की कृपा से गत तीन सालों में देश-विदेश में हजारों बार दुहराए जा चुके हैं। यानी, दंगों में कोई हिन्दू नहीं मरा? न ही इसी दौरान भारत में किसी मुस्लिम ने किसी हिन्दू की हत्या की?

फिर, गो-रक्षकों द्वारा किसी मुस्लिम की हत्या का उल्लेख करते हुए थरूर ने साफ भुला दिया कि गो-माँस के लिए गायों को एक राज्य से दूसरे राज्य ले जाने का संगठित व्यापार यहाँ दशकों से चल रहा है। इसमें पुलिस पर गोली चलाने समेत विविध गैर-कानूनी गतिविधियाँ भी हैं। पर, थरूर इन सबका कोई उल्लेख नहीं करते। न ही यह, कि भारतीय संविधान में शुरू से ही गोरक्षा भी राज्य का कर्तव्य लिखा हुआ है। जबकि भारत में अनेक मुस्लिम नेता, मुल्लों ने मुसलमानों को गोकशी करने के लिए ठीक इसीलिए जोर दिया, ताकि हिन्दुओं को नीचा दिखाकर अपना वर्चस्व मजबूत करें। यह सब जानते हुए गाय का मजाक उड़ा और हिन्दुओं को हत्यारा कहकर थरूर इस्लामी तलवार को ही धार दे रहे हैं।

सांप्रदायिक दंगों पर थरूर का अधूरा कथन सच छिपाने, और झूठ फैलाने का ही उदाहरण है। भारत में दंगों का सौ साल से अनवरत इतिहास है। उनका सच क्या

है? दंगों पर विभिन्न न्यायिक आयोगों की रिपोर्टें क्या कहती हैं? ठोस आँकड़े क्या हैं? इन बिन्दुओं पर कौन-सा शोध हुआ? इनका उत्तर ढूँढ़ने पर उलटी सचाई झलकेगी।

दंगों पर बना-बनाया दुष्प्रचार होता है। दशकों से, कश्मीर से लेकर केरल और असम से गुजरात तक किसने दंगे शुरू किए, उसमें कितने हिन्दू और कितने मुस्लिम मरे—इन दो बातों को छोड़कर सारा दुष्प्रचार होता है। एक बार, कांग्रेस शासन में ही, संसद में रखी गई गृह मंत्रालय की रिपोर्ट में था कि वर्ष 1968 से 1970 के बीच हुए 24 दंगों में 23 दंगे मुस्लिमों द्वारा शुरू किए गए थे। वह कोई अपवाद अवधि न थी। एक मोटा-सा तथ्य देखें। भारत में कोई एक जिला भी नहीं जहाँ से मुसलमानों को मार भगाया गया। जबकि पूरे कश्मीर के अलावा, असम और केरल में भी कई जिले हिन्दुओं से लगभग खाली हो चुके हैं। अब बिहार और उत्तर प्रदेश में भी कैराना जैसे वैसे क्षेत्र बन रहे हैं।

अतः दंगों में केवल मुस्लिमों को पीड़ित और हिन्दुओं को उत्पीड़क बताना इस्लामी आक्रामकता को बढ़ाना है।

दंगे इस्लामी राजनीति की तकनीक हैं। स्वतंत्रता-पूर्व स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग के बारे में कहा था कि उसका मुख्य काम सड़कों पर हिन्दू-विरोधी दंगे करना है। स्वतंत्र भारत में भी वह प्रवृत्ति खत्म नहीं हुई। सबसे हाल का बड़ा दंगा भी वही था। गोधरा में अपनी ओर से, तैयारी करके, मुसलमानों ने 59 निरीह हिन्दू तीर्थयात्रियों को जिन्दा जला दिया! तभी गुजरात दंगा हुआ। ऐसे तमाम तथ्य छिपाकर थरूर किस मनोवृत्ति को बढ़ा रहे हैं।

उन्होंने और उनकी पार्टी ने राजनीतिक उद्देश्यों से दंगों पर हिन्दू-विरोधी प्रचार किया है। इसी आड़ में मुस्लिम 'सुरक्षा' के नाम पर उन्हें विशेषाधिकार, विशेष आयोग, सुविधाएँ, संस्थान, अनुदान, आदि दे-देकर उनके वोट माँगे हैं। सात वर्ष पहले केंद्र में कांग्रेस सरकार द्वारा 'सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा निरोध विधेयक' (2011) उसी की भयानक परिणति थी। उसमें मानकर चला गया था कि हर सांप्रदायिक हिंसा के दोषी केवल हिन्दू और पीड़ित केवल मुस्लिम होंगे! तदनुरूप ऐसी निरोधक एवं दंड-व्यवस्था प्रस्तावित हुई थी जो व्यवहारतः तानाशाही मुगल-शासन बन जाता।

यहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों के संबंध में उत्पीड़ित और उत्पीड़क का पूरा मामला ऐसा ऑर्वेलियन है कि इसके पाखंड और जुल्म को सामान्य भाषा में रखना कठिन है! जबकि यह कोई दूर देश या सदियों पुरानी बातें नहीं, बल्कि हमारे सामने होनेवाली दैनंदिन घटनाओं को झुठलाया जाना है।

चार वर्ष पहले (मार्च 2014) सहारनपुर की घटना लें। कांग्रेस के लोकसभा प्रत्याशी इमरान मसूद ने खुली सभा में कहा कि वह नरेंद्र मोदी को टुकड़े-टुकड़े कर

डालेगा। सारे देश ने वीडियो में देखा कि किस सहजता, निश्चिंतता और विश्वास से मसूद ने वह कहा था। उपस्थित भीड़ ने उस पर तालियाँ बजाई। मसूद कोई अपवाद नहीं थे। उससे पहले अकबरुद्दीन ओवैसी ने कहीं और बड़ी सभा में घंटे भर तक वैसा ही हिंसक भाषण अनवरत तालियों के बीच दिया था। क्या यह सब किसी उत्पीड़ित का अंदाज है।

ऐसी घटनाओं में हिन्दुओं को मानो भेड़-बकरी मानकर चला जाता है। गत सौ सालों से यहाँ अनेक मुस्लिम नेता, अनगिन बार, तुर्की, अमेरिका या डेनमार्क की घटनाओं पर भी प्रतिक्रियावश यहाँ हिन्दुओं को मारते रहे हैं। यह दर्जनों बार देखा गया है।

तब मुस्लिम सुरक्षा की एकतरफा चिन्ता करके थरूर किसको मजबूत करते हैं? निस्संदेह, इस्लामी आक्रामकता को, जो किसी भी बात पर यहाँ हिन्दुओं को मारना, उनकी संपत्ति जलाना तथा वीभत्स अत्याचार करना अपना अधिकार समझते रहे हैं। इस पर स्वयं कांग्रेस के सर्वोच्च नेताओं एनी बेसेंट, महात्मा गाँधी, लाजपत राय, आदि के ही विस्तृत वक्तव्य हैं।

इसीलिए, किसी घटना को अलग, विकृत और अधूरे रूप में देश-विदेश में परोसकर थरूर जैसे नेता और उनके सरपरस्त इस देश और हिन्दुओं की जो हानि करते रहे हैं, उसका हिसाब नहीं हो सकता। यहाँ हिन्दू मरते, अपमानित, विस्थापित होते, इंच-इंच अपनी भूमि मुस्लिमों के हाथों खोते हुए भी उलटे पूरी दुनिया में आक्रामक शैतान जैसे चित्रित होते रहे हैं।

यह संयोग नहीं, कि यहाँ सांप्रदायिक दंगे गंभीरतम विषय होते हुए भी इस पर कोई शोध, तथ्यवार विवरण, आदि नहीं मिलता! इसके पीछे सचाई छिपाने की मंशा है। मीडिया के अलावा विश्वविद्यालय, शोध संस्थान और अकादमिक पत्रिकाएँ सभी इस पर अध्ययन को हतोत्साहित करती हैं। खोजकर देखें। केवल एक विदेशी विद्वान डॉ. कोएनराड एल्स्ट की पुस्तक 'कम्युनल वायोलेंस एंड प्रोपेगंडा' (वॉयस ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 2014) मिलती है, जिसमें यहाँ सांप्रदायिक दंगों का एक हिसाब किया गया।

यह पुस्तक भारत में गत छह-सात दशक के सांप्रदायिक दंगों की समीक्षा है। इसमें वैसे अनेक तथ्य हैं जिन पर बड़े-बड़े बौद्धिकों का ध्यान नहीं जाता। कायदे से ऐसी पुस्तक हमारे सेक्यूलर-वामपंथी प्रोफेसरों, पत्रकारों को लिखनी थी! पर उन्होंने जानबूझ कर यह नहीं किया। ताकि मुस्लिमों के हाथों कई गुना हिन्दू खून होने की सचाई पर पर्दा पड़ा रहे। डॉ. अंबेदकर की पुस्तक 'पाकिस्तान ऑर पार्टीशन ऑफ इंडिया' (1940) के साथ कोएनराड की यह पुस्तक मिलाकर पढ़ें, तो असलियत दिखेगी।

भारत में दंगों के हिसाब में पाकिस्तान और बंगलादेश वाली भारत-भूमि के आँकड़े भी जरूरी हैं। उन दोनों देशों में कुछ पहले सैकड़ों मंदिरों के विध्वंस का 'मूल

कारण' यहाँ बाबरी-मस्जिद गिराने को बताया गया था! अर्थात्, तीन देश हो जाने के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम खून के हिसाब में आपसी रिश्ता है। अतः तमाम हिन्दू हानि जोड़नी ही होगी। बाबरी मस्जिद गिरने से पहले भी, केवल 1989 ई. में, बंगलादेश में सैकड़ों हिन्दू मंदिर तोड़ डाले गए थे। उससे भी पहले वहाँ कश्मीरी हिन्दुओं की तरह ही, लाखों हिन्दू निरीह कत्ल हुए थे। तब पूरी तस्वीर क्यों नहीं दिखाई जाती?

जिन्हें भारत में सांप्रदायिक खून-खराबे की सच्ची चिन्ता हो, वे नोट करें कि 1947 से 1989 ई. तक भारत में हिन्दुओं के हाथों जितने मुसलमान मरे, उतने हिन्दू पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) में 1950 ई. के कुछ महीनों में ही मारे गए थे। आगे भी केवल 1970-71 ई. में वहाँ कम से कम दस लाख हिन्दुओं का संहार हुआ। विश्व-प्रसिद्ध पत्रकार ओरियाना फलासी ने अपनी पुस्तकों : 'रोज एंड प्राइड' (पृ. 101-02) तथा 'फोर्स ऑफ रीजन' (पृ. 129-30) में ढाका में हिन्दुओं के सामूहिक संहार का एक प्रत्यक्षदर्शी, लोमहर्षक विवरण दिया है!

वह नरसंहार गत आधी सदी में दुनिया का सब से बड़ा था! उसके मुख्य शिकार हिन्दू थे, यह तथ्य पश्चिमी प्रेस में तो स्पष्ट आया, पर भारत में पूरी तरह छिपाया गया। न्यूयॉर्क टाइम्स (14 जुलाई 1971) में सिडनी शॉनबर्ग ने लिखा था, ''पाकिस्तानी सेना ने पहले बंगाली मुस्लिमों और 1 करोड़ हिन्दुओं को निशाना बनाया था, पर अब वे केवल हिन्दुओं को निशाना बना रहे हैं जिसे विदेशी अवलोकनकर्ता जिहाद के रूप में देख रहे हैं। (चालीस लाख हिन्दुओं के भाग कर भारत चले जाने के बाद) अब भी सैनिक दस्ते हिन्दुओं को मार रहे और उन के गाँव लूट रहे हैं।''

भारतवर्ष का पूरा हिसाब करें, तो यह सचाई सामने आती है कि केवल 1947 ई. के बाद हुई सांप्रदायिक हिंसा में अब तक मुसलमानों की तुलना में नौ गुना हिन्दू मारे जा चुके हैं! विस्थापन और शरणार्थी आँकड़ों में भी उसकी झलक है। जहाँ पाकिस्तान एवं बांगलादेश से उत्पीड़न के मारे हिन्दू शरणार्थी लाखों की संख्या में भारत आते रहे, उसी कारण भारत से पाकिस्तान जाने वाले मुस्लिम शून्य हैं। क्या इससे भी असलियत नहीं झलकती।

पर भारत में इस्लाम की तलवार थामे हिन्दू बौद्धिक ही प्रभावशाली हैं। संपादकगण और नेता लोग भी उन्हीं को महत्त्व देते हैं। कोएनराड जैसी विद्वत हस्तियों को कहीं, कोई जगह नहीं मिलती। इसलिए, अकारण नहीं कि इस्लामी तलवार हाथ में उठानेवाले हिन्दुओं की कमी नहीं होती। जबकि हिन्दुओं की ओर से लिखने-बोलने वाले दर-दर भटकते, खाली हाथ लड़ने को मजबूर है। शशि थरूर जैसों के अहंकारी आत्मविश्वास का कारण यह भी है। वे एक आक्रामक वैश्विक साम्राज्यवादी मतवाद के साथ हैं, इसलिए बलवान महसूस करते हैं। दूसरी ओर, विश्व के अकेले हिन्दू देश में भी हिन्दू ही लांछित, उत्पीड़ित और प्रताड़ित हैं। राजनीतिक पार्टियों की उठा-पटक से इस गंभीर बिन्दु पर कोई अंतर नहीं आया है।

भारतीय लोकतंत्र में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने की प्रासंगिकता

अरविन्द प्रसाद गोंड*

भारत दुनिया में सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है, जिसे सदियों से विभिन्न राजाओं, सम्राटों द्वारा शासित रहा और यूरोपी द्वारा उपनिवेश बनाया गया। भारत वर्ष 1947 में अपनी आजादी के बाद एक लोकतांत्रिक राष्ट्र बन गया था। उसके बाद भारत के नागरिकों को वोट देने और उन्हें अपने नेताओं का चुनाव करने का अधिकार दिया गया। दूसरी सबसे अधिक आबादी वाला देश भारत क्षेत्रफल की दृष्टि से दुनिया का सातवाँ बड़ा देश तथा दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। वर्ष 1947 में देश को स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारतीय लोकतांत्रिक सरकार का गठन किया गया था। केन्द्रीय और राज्य सरकारों का चुनाव करने के लिए हर पाँच साल में संसदीय और राज्य विधा सभा चुनाव आयोजित किए जाते हैं। भारत में सबसे ज्यादा मतदाता हैं और चुनावों में होने वाले खर्चों के मामले में भी भारत आगे है।

इसी संदर्भ में पिछले कुछ वर्षों से भारत में लोकसभा विधानसभा चुनाव एक साथ कराने का मुद्दा लगाातार चर्चा में रहा है। कभी यह बात कानून एवं कार्मिक मामलों की स्थायी संसदीय समिति की रिपोर्ट 2015 में उजागर होती है। तो कभी प्रधानमंत्री के भाषणों में। कभी इस मुद्दे पर नीति आयोग द्वारा पहल की जाती है। तो कभी विधि आयोग एवं चुनाव आयोग द्वारा। हाल में 29 जनवरी 2018 को संसद के संयुक्त सत्र में दिए जानेवाले राष्ट्रपति के अभिभाषण में भी लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने की प्रक्रिया पर जोर दिया गया। देश में बार बार होने वाले चुनावों को विकास प्रक्रिया में बाधक बताया गया लेकिन इसमें कई पेंच हैं और इसके सियासी नतीजे भी पेंचीदा हैं, जिसके सूत्र कई घटनाओं के बीच उलझे हुए

*महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

है। इसके सांविधानिक पहलू भी आसान नहीं हैं। आइए पहले इस बहस के इतिहास को जाना जाए कि देश की आजादी के बाद भारत में वर्ष 1952 के पहले आम चुनाव से लेकर वर्ष 1967 तक लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ संपन्न होते रहे हैं। लेकिन तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के समय वर्ष 1970 में लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराने के फैसले और फिर आगे चलकर दलबदल और कुछ अन्य कारणों से भी राज्य सरकारों के गिरने और वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू होते रहने के कारण लोकसभा और विधानसभा के चुनाव अलग-अलग समझकर होने की परम्परा बन गई। और अब तो तकरीबन प्रत्येक साल और किसी-किसी साल तो दो तीन बार किसी न किसी राज्य में चुनाव होते ही रहते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि एक बार चुनाव प्रक्रिया शुरू हो जाने और चुनाव आयोग की आदर्श आचार संहिता लागू हो जाने के कारण संबंधित राज्य में कल्याण कार्यक्रमों और विकास परियोजनाओं पर एक तरह का विराम लग जाता है। इस तरह देखें तो प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति की चिन्ता हमें कहीं न कहीं जायज प्रतीत होती है।

हालाँकि इस मुद्दे पर सबसे पहले चर्चा की शुरुआत वर्ष 1999 में हुई, जब विधि आयोग ने सुझाव दिया कि देश में हर साल चुनाव कराने से छुटकारा मिल सके इसलिए एक साथ चुनाव कराया जाए। यदि देश में होनेवाले चुनावों का जायजा लिया जाए तो प्रतिवर्ष किसी न किसी राज्य में चुनाव होते ही रहते हैं। कहने का मतलब यह है कि चुनावों की निरंतरता और बारम्बारता से भारत हमेशा इलेक्शन मोड में ही रहता है। इससे न केवल प्रशासनिक और नीतिगत निर्णय प्रभावित होते हैं बल्कि राष्ट्रीय संपत्ति और जनता के पैसों का भी नुकसान होता है।

इसलिए नीति निर्देशक के मन में यह विचार आया कि क्यों न लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव साथ-साथ कराए जाएँ। यह अच्छा है या बुरा यह तो अब एक चर्चा या विमर्श का मुद्दा बन चुका है।

इसी संदर्भ में स्थायी संसदीय समिति ने यह व्यवस्था दी कि चुनाव दो चरणों में संपन्न कराए जाएँ। पहले चरण में लोकसभा की मध्यावधि में आधी विधानसभाओं के लिए चुनाव कराए जाएँ और बाकी बची विधानसभाओं का चुनाव लोकसभा के साथ संपन्न कराए जाएँ। विधि आयोग ने अपनी 170 वीं रिपोर्ट में इस संदर्भ में यह प्रस्ताव दिया कि जिन विधानसभाओं के कार्यकाल आम चुनाव के 6 महीने बाद खत्म होनेवाले हों उनका चुनाव आम चुनाव के साथ ही करा दिया जाए, पर उनके परिणाम की घोषणा 6 महीने बाद हो नियत समय पाने के लिए एक साथ देश में लोसभा और विधानसभा चुनाव कराने की सिफारिश की थी। उसके बाद वर्ष 2002 में संविधान समीक्षा आयोग या वेंकटचेलैया समिति ने यह सुझाव दिया कि लोकसभा और विधान सभा चुनाव एक साथ कराया जाए।

मुख्य सवाल यह है कि भारतीय लोकतंत्र में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराए जाने का मुद्दा भारत में कितना कारगर सिद्ध होगा? क्या यह देश के संघीय ढाँचे के विरुद्ध तो नहीं है? क्या इससे चुनावी खर्च और भ्रष्टाचार को कम किया जा सकता है? क्या यह भारत को विकास के पथ पर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध होगा? क्या इसे भारतीय लोकतंत्र को एक नई गति और उर्जा मिलेगी? यह देश हित में है या नहीं अतः इस पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है।

किसी भी जीवंत लोकतंत्र में चुनाव एक आवश्यक प्रक्रिया है और एक उत्सव भी है। स्वस्थ एवं निष्पक्ष चुनाव लोकतंत्र की आधारशिला होती है। भारत जैसे देश में अबाध चुनावी प्रक्रिया संपन्न कराना हमेशा से एक टेढ़ी खीर रहा है। इसके अलावा नीति आयोग ने यह विचार दिया कि वर्ष 2024 में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ करवाना राष्ट्रहित में होगा। इसके लिए कुछ विधानसभाओ के कार्यकाल में कटौती करनी होगी और कुछ के कार्यकाल में विस्तार करना होगा। चुनाव आयोग ने भी इस विचार को सराहनीय बताते हुए इस संदर्भ में वर्ष 2018 के सितम्बर माह तक अपनी सहमति व्यक्त करने की बात की है। बशर्ते सभी राजनीतिक दल इस मुद्दे पर एकमत हो तो अधिकांश सरकारी अमला दो चरणों में चुनाव करवाकर इसे वर्ष 2024 तक सुचारु बनाने के पक्ष में है। लेकिन सवाल यह उठता है कि क्या यह इतना आसान है?

एक साथ चुनाव कराने के पक्ष में तर्क

लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने के पक्ष का सबसे पहले पहला तर्क दिया जाता है कि यह विकासोन्मुख विचार है। क्योंकि चुनावों की बारम्बारता के कारण बार-बार आदर्श आचार संहिता यानी मॉडल कोड ऑफ कंडक्ट लगााना पड़ता है। जिससे सरकार आवश्यक नीतिगत निर्णय नहीं ले पाती है और विभिन्न योजनाओं-परियोजनाओं की गतिविधियाँ प्रभावित होती है। इससे विकास अवरुद्ध होता है। आदर्श आचार संहिता चुनावों की शुचिता बरकरार रखने हेतु बनाया गया एक विधान है। इसके तहत निर्वाचन आयोग द्वारा चुनाव की अधिसूचना जारी होने के उपरान्त सत्ताधारी दल मंत्रियों या लोक प्राधिकारियों द्धारा किसी नियुक्ति प्रक्रिया परियोजना की घोषणा, वितीय मंजूरी या नई स्कीमों आदि की शुरुआत की मनाही रहती है। इसके पीछे उदेश्य यह है कि इससे सत्ताधारी दल को चुनाव में अतिरिक्त लाभ न मिले। यदि देश में एक ही बार लोकसभा और विधानसभा के चुनाव संपादित किए जाएँ तो अधिकतम दो महीने ही आदर्श आचार संहिता लागू रहेगी। बाकी के चार साल दस महीने तो निर्बाध रूप से विकासात्मक परियोजनाओं को संचालित किया जा सकता है। अतः देश को विकास पथ पर तीव्रता से अग्रसर करने हेतु देश में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराना आवश्यक है। हालाँकि इस संदर्भ में एक

सवाल यह जरूर उठता है कि आज चुनावों के विकास में बाधक होने का तर्क स्वीकार कर लिया गया तो क्या कल समूचे लोकतंत्र को ही विकास विरोधी ठहराने वाले लोग आगे नहीं आ जाएँगे? अतः इस मुद्दे पर भी सचेत रहने की जरूरत है।

दूसरा तर्क

इससे चुनावों पर होने वाले भारी खर्च में कमी आएगी और राष्ट्रीय कोष में वृद्धि होगी। क्योंकि चुनावों की अधिकता से देश पर अतिरिक्त धन का बोझ पड़ता है। इसे कम करने के लिए देश में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराए जाएँ।

तीसरा तर्क

एक साथ लोकसभा और विधानसभा के चुनाव होने से काले धन पर रोक लगेगी और भ्रष्टाचार पर लगाम कसने में भी मदद मिलेगी। यह चुनाव सुधार की दिशा में भी कारगर सिद्ध हो सकता है। सर्वविदित है कि हमारी अर्थव्यवस्था काले धन की चपेट में बुरी तरह फँसी हुई है और चुनावों के दौरान इस काले धन का खेल खुलकर खेला जाता है। हमारे देश में प्रत्याशियों द्वारा चुनावों में किए जानेवाले खर्च की सीमा तो निर्धारित है लेकिन राजनीतिक दलों द्वारा किए जानेवाले व्यय की कोई सीमा निर्धारित नहीं है। वही दूसरी तरफ लोक प्रतिनिधित्व की धारा 29-ब अनुसार बीस हजार रुपये तक के कैश डोनेशन का व्यौरा रखने की आवश्यकता नहीं होती है, लेकिन बार-बार होने वाले चुनाव राजनीतिक पार्टियों के व्यय को बढ़ाते हैं, परिणाम स्वरूप यह कॉरपोरेट एवं राजनीतिक दलों के अंतस्सम्बंध को प्रगाढ़ करता है अतः जनप्रतिनिधित्व कानून में सुधार के साथ-साथ यदि सारे चुनावों को एक साथ करवाया जाए तो इससे राजनीतिक दलों द्वारा चुनावों पर व्यय की जाने वाली राशि भी कम हो जायेगी। जिससे काले धन के प्रवाह एवं कॉरपोरेट एवं राजनीतिक पार्टियों के अंतस्संबधों को नियंत्रित करने में सहूलियत होगी।

चौथा तर्क

लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराए जाएँ तो कर्मचारियों के मूल कृत्यों के निर्वहन में तीव्रता आयेगी, साथ ही लोगों के सार्वजनिक जीवन के व्यवधान में भी कमी आएगी। जैसा कि हमारे यहाँ चुनाव कराने हेतु शिक्षकों एवं सरकारी सेवा में कार्यरत कर्मचारियों की सेवा ली जाती है, जिससे उनका मूलकार्य प्रभावित होता है। इतना ही नहीं चुनाव सुरक्षित हो तथा अवांछनीय तत्वों द्वारा इसे प्रभावित न किया जाए। इसके लिए भी भारी संख्या में पुलिस एवं सुरक्षा बलों की सहायता ली जाती है। इससे शिक्षा एवं सुरक्षा व्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही

साथ चुनावी रैलियों एवं प्रचारों से यातायात की परेशानियों में वृद्धि होती है और आम जन जीवन प्रभावित होता है इस कारण लोकसभा और विधानसभा के चुनाव एक साथ हों तो मानव संसाधन के प्रयोग तथा लोक जीवन की सुगमता की दृष्टि से कहीं ज्यादा बेहतर विकल्प होगा।

देश में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने के वपक्ष में तर्क

पहला तर्क

यह देश के संघीय ढाँचे के विरुद्ध होगा तथा संसदीय लोकतंत्र के लिए घातक कदम होगा तथा एक साथ लोकसभा और विधानसभा के चुनाव करवाने में बहुत-सी विधानसभाओं की मर्जी के खिलाफ उनके कार्यकाल को घटाया या बढ़ाया जाएगा, जिससे राज्यों की अपनी स्वायत्तता प्रभावित हो सकती है भारत का संघीय ढाँचा संसदीय प्रणाली से प्रभावित-प्रेरित है।

दूसरा तर्क

संविधान ने हमें संसदीय मॉडल दिया, जिसके तहत लोकसभा और विधानसभा पाँच वर्ष के लिए चुनी जाती है। लेकिन एक साथ चुनाव करवाने के मामले में हमारा संविधान मौन है इस संविधान में तो कई ऐसे मुखर प्रावधान हैं जो इस विचार के बिलकुल विपरीत दिखाई देते हैं जैसे अनुच्छेद 83: 2 ख के अनुसार राष्ट्रपति लोकसभा को और अनुच्छेद 172: 1 क के अंतर्गत राज्यपाल विधानसभा को पाँच वर्षों के पूर्व भी भंग कर सकते हैं। अनुच्छेद 356 के तहत राज्यों में राष्ट्रपति शासन लगाया जा सकता है और ऐसी स्थिति में संबद्ध राज्य के राजनीतिक समीकरण में अप्रत्याशित उलटफेर होने से वहाँ फिर से चुनाव की सम्भावना बढ़ जाती है।

तीसरा तर्क

इसमें लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षरण होगा। अगर एक साथ दोनों चुनाव करवाए गए तो सम्भव है कि इससे राष्ट्रीय मुद्दों के सामने क्षेत्रीय मुद्दे गौण हो जाएँ या फिर क्षेत्रीय मुद्दों के सामने राष्ट्रीय मुद्दे अपना अस्तित्व खो दें। दरअसल, लोकसभा एवं विधानसभा के चुनाव का स्वरूप और मुद्दा बिलकुल भिन्न होता है। लोकसभा का चुनाव जहाँ राष्ट्रीय सरकार के गठन के लिए होता है वहीं विधानसभा का चुनाव राज्य सरकार के गठन के लिए होता है। इसलिए एक में जहाँ राष्ट्रीय मुद्दों जैसे आतंकवाद, नक्सलवाद, राष्ट्रीय सुरक्षा, कश्मीर समस्या, उर्जा सुरक्षा, अंतरराष्ट्रीय

संबंध आदि प्रमुखता होती है तो दूसरे में राज्यों के क्षेत्रीय मुद्दे जैसे भूमि अधिग्रहण, जातीय शोषण या मजदूरों का विस्थापन, रोजी-रोटी क्षेत्रीय अस्मिताएँ तथा स्थानीय मुद्दे आदि महत्त्वपूर्ण होते हैं। यानी मुद्दे के आधार पर लोकसभा एवं विधानसभा चुनाव में भारी अंतर होता है।

निष्कर्ष

यह कहा जा सकता है कि देश में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने से हमारे देश की क्षेत्रीय पार्टियों का उलट-फेर कुछ ज्यादा हो जाएगा और इनका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाने की सम्भावना अधिक रहेगी, क्योंकि राष्ट्रीय स्तर पर दो ही राजनीतिक दल मजबूत स्थिति में दिख रहे हैं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी और भारतीय जनता पार्टी इसी को ध्यान में रखकर आम जनता अपना मत करती है आज भी। इस तरह चुनाव सुधार में जनप्रतिनिधित्व की धारा को अद्यतन करना काले धन पर रोक लगााना राजनीति के अपराधीकरण के खिलाफ सख्त कानून बनाना रचनात्मक अविश्वास की परिपाटी को बढ़ावा देना तथा जन शिक्षण के द्वारा लोगों में राजनीतिक चेतना एवं जागरुकता का सही विकास करना जरूरी है, तभी प्रतिनिधि मूलक समावेशी और सहभागी लोकतंत्र की स्थापना सम्भव है। यदि सांविधानिक संशोधन के जरिए एक साथ चुनाव करवा दिए जाएँ तो फिर भी इस बात की गारंटी नहीं है कि आगे भी यह क्रम बरकरार ही रहे। ध्यान रहे कि जब-जब नेता नीति को छोड़कर राजपाट पाने को आतुर होते हैं तो चुनावों की अधिकता इस देश का दुर्भाग्य बन जाती है ऐसे में भी जब ''वन नेशन वन टैक्स'' का विचार फलीभूत हो सकता है तो ''वन नेशन वन इलेक्शन'' को एक बार आजमाने में क्या परेशानी है? इसलिए मध्यममार्गी विकल्प के तौर पर एक बार सभी राजनीतिक दलों की आम सहमति से लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ करवाए जा सकते हैं और पाँच वर्षों तक इसमें आनेवाली व्यावहारिक दिक्कतों का जायजा लिया जाना चाहिए। यदि इसके बाद सब कुछ सही रहा तो इसे आगे भी आजमाया जाए वरना इसे छोड़कर अन्य विकल्पों की ओर बढ़ा जा सकता है।

राष्ट्र, शिक्षा, राजनीतिः भारतीय परिप्रेक्ष्य

ब्रजेन्द्र पाण्डेय

समकालीन भारतीय राजनीति के दौर में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व के कालखण्ड को एक वैकल्पिक स्वीकृति के कालखण्ड के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय जनता पार्टी एक ऐसी राजनीतिक धारा का नेतृत्व करती दिखायी देती है जिसकी उपस्थिति को दलीय राजनीति के दायरे के बाहर भी जाकर देखने की आवश्यकता है। यूँ तो आपातकाल के बाद भी जनता पार्टी के रूप में देश को एक अलग प्रकार का नेतृत्व देने का यत्न किया गया था, जो अल्पजीवी ही सिद्ध हुआ। किन्तु जनता पार्टी के उस अल्पकालिक दौर को भी स्वाधीनता के बाद से चले आ रहे देश के राजनीतिक चरित्र से बहुत भिन्न नहीं माना जा सकता। वैसे तो देश के राजनीतिक पटल पर अपनी उपस्थिति के लिए कशमकश करती हुए भारतीय जनता पार्टी के दौर को भी वैसा ही एक दौर माना जा सकता है जो देश में अनवरत रूप सेव्याप्त रहा है, किन्तु एक लम्बे कशमकश के बाद यदि पाँच-पाँच वर्षों के लिए दो बारभारतीय जनता पार्टी की 'बहुदलीय' सरकार बनती है तो इसके कुछ गहरे निहितार्थों को भी समझने की आवश्यकता है। जैसे पहले कहा जा चुका है कि भारतीय जनता पार्टी के इस दौर को संसदीय प्रजातंत्र की दृष्टि से भले ही कोई वैचारिक या नीतिगत वैशिष्ट्य न प्राप्त हो, किन्तु भारतीय जनता पार्टी का यह दौर स्वतंत्र भारत की राजनीति में एक ऐसे हस्तक्षेप के रूप में दिखायी देता है जब धुँधला ही सही, एक ऐसा राजनीतिक विकल्प देश को प्राप्त होता है जिसमें देश के सम्पूर्ण राष्ट्रबोध को एक बहुप्रतीक्षित नई दृष्टि से देखने का अवकाश प्राप्त होता है। बहुत कुछ राजनीतिक प्रेरणावश ही सही, किन्तु

* ब्रजेन्द्र पाण्डेय, उपाचार्य, राजनीतिशास्त्र, विद्यान्त महाविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सचिव, कुमारस्वामी फाउण्डेशन, सह-सम्पादक, *तत्त्व-सिन्धु*। कृतियाँः *Re-membering Tradition: AK Coomaraswamy and AK Saran*, *Exploring Universalism*, *Re-thinking Indian Political Thought*, *Reflections: Philosophia Perennis in Contemporary Context*, *परम्पराः सनातन सन्दर्भ और आधुनिक भारत के प्रश्न*। brijendra_pandeyji@yahoo.co.in] 09451155116.

राष्ट्रीयता, स्वदेशी, शिक्षा, संस्कृति, पुनरुत्थान जैसे कुछ ऐसे विचारों को, जिन पर स्वाधीनता आन्दोलन के प्रथम चरण में प्रमुख रूप से विचार किया गया था और जिनको स्वाधीनता आन्दोलन के आगामी चरणों में देश की राजनीतिक आजादी के प्रमुख लक्ष्य बन जाने के कारण और स्वाधीनता के बाद देश के राजनीतिक नेतृत्व के 'विकासोन्मुख' हो जाने के कारण लगभग पार्श्व में धकेल दिया गया था; पुनः अपनी सार्थकता और अस्तित्व का बोध जगाने का अवसर प्राप्त हुआ। नरेन्द्र मोदी के 'डिजिटल इण्डिया' को अटल जी के 'शाइनिंग इण्डिया' और इमानदारी से नेहरू के 'आधुनिक भारत' के स्वप्न का ही स्वाभाविक, अनवरत और घनीभूत विस्तार माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से देश को 'आगे ले जाने' के संकल्प को लेकर नेहरू-युग से अटल-युग होते हुए मोदी-युग तक कोई अधारभूत और नीतिगत अन्तर दिखायी नहीं देता। किन्तु अटल-युग और मोदी-युग - इन दोनों युगों में राष्ट्र की 'चिति' और 'विराट्' को निर्धारित/व्यक्त करने वाले तत्त्वों को सतह पर आते हुए देखा जा सकता है। अपनी-अपनी कार्यशैली के कारण अटल-युग और मोदी-युग को लेकर राजनीतिक सत्ता की दृष्टि से पक्ष-विपक्ष के अपने-अपने तर्क हो सकते हैं, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्र के तत्त्व-विन्यास (Essence) को तय करने वाले उक्त विषयों को इन्हीं युगों में चर्चा का अवकाश मिल पाया, और इस दृष्टि से भारतीय जनता पार्टी का दौर एक Breakthrough की तरह से अवश्य ही देखा जाना चाहिए। राजनीति में सक्रिय जनों के प्रति यदि इस अपेक्षा को सीमित भी रखा जाए तो भी देश के नागरिक-समाज (Civil Society) और बौद्धिक जगत से तो यह अपेक्षा रखी ही जानी चाहिए कि तथाकथित राजनीतिक उपलब्धियों को गिनाने-मिटाने की धमाचौकड़ी से अलग हटकर उन्हें तो कम से कम इस 'Breakthrough' का उपयोग राष्ट्र के तत्त्व-विन्यास को निर्धारित करने वाले विषयों की सार्थक चर्चा में करना ही चाहिए था। दुर्भाग्य से कुछ अपवादों को छोड़कर देश का संगठित और असंगठित नागरिक समाज, बौद्धिक वर्ग, विश्वविद्यालय आदि सभी प्रतिष्ठान इस 'Breakthrough' का इमानदारी से सदुपयोग नहीं कर पाए। इन्होंने इस अवसर पर भी राजनीतिक फायदे-नुकसान के लिए विरोध-समर्थन के खाँचों में बँटकर इन दीर्घजीवी मुद्दों पर सहमति निर्मित करने की एक दुर्लभ संभावना को लगभग गँवा दिया।

उदयावपात सभ्यताओं की नियति है। भारतीय सभ्यता भी इससे अछूती नहीं रही। बारहवीं शताब्दी से इस सनातन सभ्यता पर विजातीयता की छाया गहरानी शुरू हुई। अठारहवीं शताब्दी तक राज्य और समाज के स्तर पर कमोबेष उथल-पुथल बना रहा, किन्तु भारतीय समाज का अन्दरूनी चरित्र अविचलित रहा। कारण कि हिन्दू और इस्लाम दोनों सभ्यताओं की दृष्टि परम्परा से अभिप्रेरित थी, इसलिए राजसत्ता के स्तर

पर उथल-पुथल और कषमकष का दौर तो बना रहा किन्तु दोनों सभ्यताओं के अन्दर परम्परागत दृष्टि से अनुस्यूत संस्कृति का रस-प्रवाह न केवल समाज में व्याप्त रहा, वरन् एक दूसरे को प्रभावित भी करता रहा। किन्तु, अठारहवीं शताब्दी के बाद भारतवर्ष के संस्कृति-प्रधान समाज ने एक अपूर्व स्थिति का सामना किया। यह दो परम्पराओं का सम्पर्क नहीं, वरन् परम्परा का आधुनिकता के साथ सीधा टकराव था। इस टकराव के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में जिस तथाकथित पुनर्जागरण का जन्म हुआ उसका चरित्र विलक्षण है। महर्षि अरविन्द ने भारतीय पुनर्जागरण को आधुनिकता का एशियाई संस्करण कहा है जो अनेक दृष्टियों से सत्य भी है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि पुनर्जागरण-काल में आधुनिक पाश्चात्य जीवन-दृष्टि का ही महिमामण्डन नहीं हुआ, वरन् भारतीय संस्कृति के मूलस्वरों की कभी मंद व कभी तीव्र प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती है। भारतीय पुनर्जागरण का स्वरूप सोलहवीं शताब्दी के यूरोपीय पुनर्जागरण की भाँति ही जटिल है। दोनों में जहाँ एक ओर इहलोकवाद के प्रति प्रबल आग्रह दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर हमें यूरोपीय और भारतीय पुनर्जागरण के मध्य एक मौलिक अन्तर को भी ध्यान में रखना चाहिए। सोलहवीं शताब्दी के यूरोप के राष्ट्र-राज्य स्वतंत्र थे और वे स्वेच्छा से इहलोकवादी-व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि का वरण कर रहे थे। ईसाई जीवन-दृष्टि से विलग होने की उनकी इच्छा आत्म-प्रसूत थी। जबकि उन्नीसवीं शताब्दी का भारत एक पराधीन राष्ट्र था जिस पर आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के जीवनादर्श आरोपित किए जा रहे थे। यह आरोपण संवेदनशील भारतीयों को प्रायः कसमसाहट और पीड़ा से भर देता है तथा अनेक अन्तर्द्वन्द्वों व विरोधाभाषों को जन्म देता है।

इस प्रकार, पुनर्जागरण-काल एक क्लान्त-श्रान्त प्राचीन देश में आधुनिकता के बीजारोपण का काल तो है ही, यह भारतीय अस्मिता के सिंहनाद का काल भी है। यह आत्म-विस्मरण का काल भी है और पुनर्स्मरण का भी। यह दिग्भ्रान्ति का काल भी है और दिषा-बोध का भी। यह संविभ्रम (Paranoia) का काल भी है और सम्यक दृष्टि (Metanoia) का भी। एक प्राचीन राष्ट्र अपने नए संरक्षक के प्रति कभी विश्वास तो कभी अविश्वास का भाव लिए गतिमान है, परन्तु अपने गंतव्य को लेकर दुविधाग्रस्त है।

भारतीय जीवन-विधान को देखने की उपरोक्त पद्धतियों से कुछ मनीषियों को असंतोष भी हुआ। भारतीय सभ्यता के इस संधिकाल में कुछ विलक्षण विचारकों का उदय हुआ, जिन्होंने न केवल भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन को बल प्रदान किया, वरन् इतिहास के इस पड़ाव पर भारत के भविष्य को लेकर मार्गदर्शन भी किया। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, रविन्द्रनाथ टैगोर, आनन्द कुमारस्वामी, के. सी. भट्टाचार्य, बद्रीषाह, श्री अरविन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, महामहोपाध्याय मोतीलाल शर्मा शास्त्री, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज तथा धर्मसम्राट स्वामी

करपात्रीजी महाराज जैसी विभूतियों का भारतीय विचार-व्योम में प्रकट होना दैवीय सम्बल के समान है। इन विभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करके ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसी विभूतियों ने समसामयिक संदर्भ में अपने सनातन जीवनादर्शों से विचलित न होते हुए अपने मार्ग को खोजने का यत्न किया। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय सनातन परम्परा में इस प्रकार का प्रयास अपने ऋषि-ऋण को चुकाने का प्रयास है। इस विचार में यह तथ्य भी अन्तर्निहित है कि भारतीय परम्परा में किसी भी जननायक अथवा विचारक का महत्व इसी बात में निहित है कि वह अपनी सनातन परम्परा के सत्व की रक्षा के प्रति कितना उद्यत, समर्पित, आग्रही तथा सतर्क है। उक्त सभी विचारकों के महत्व को इसी दृष्टि से समझा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के सभी विचारक समसामयिक सम्दर्भों में अपनी परम्परा की ओर संकेत करने वाले प्रबल संकेतक हैं - इन सभी का महत्त्व इसीलिए है। इन सभी के प्रति हमारे मन में आदर का भाव इसलिए है क्योंकि अपनी सनातन परम्परा के प्रति हमारी प्रतिबद्धता असंदिग्ध और अटूट है। इसलिए इन विचारकों तथा इनसे संबंधित अवसरों के माध्यम से हमारा प्रयास यही होना चाहिए कि हम अपनी सनातन परम्परा के जीवनादर्षों को न केवल समझने का यत्न करें वरन् उन्हें जीवन में धारण करने का भी प्रयास करें। अनेकानेक प्रतिकूलताओं के उपरान्त भी मात्र इस संकल्प से बड़ा प्रभाव पड़ सकता है कि आधुनिक और परम्परागत जीवन-दृष्टि में से हमारी प्राथमिकता क्या है। यदि आधुनिक जीवन-दृष्टि और आधुनिक जीवन-विधान हमारी प्राथमिकता हैं तो ऐसे विचारक और इनके विचार हमें कालबाह्य, अप्रासंगिक और अव्यावहारिक लगने लगेंगे; और यदि परम्परागत जीवन-दृष्टि और तदनुरूप जीवन-विधान हमारी प्राथमिकता है तो अनेक प्रतिकूलताओं के बीच भी हम इस प्रकार के जीवन के लिए स्थान, समय और उपाय खोज ही लेंगे। इसलिए इन विचारकों के विचारों पर विचार करने से पूर्व हमें अपनी प्राथमिकता सुनिश्चित कर लेनी चाहिए कि अपने आधुनिक जीवन-विधान के बीच इन विचारकों के लिए हम स्थान तलाश रहें हैं अथवा इन विचारकों से मार्गदर्शन प्राप्त करके हम जटिल आधुनिक जीवन के बीच से भी अपने लिए मार्ग बनाना चाहते हैं। हमारे वैचारिक निष्कर्ष और हमारी व्यावहारिक उपलब्धियाँ इसी प्राथमिकता के निर्धारण पर टिके हैं। इन विचारकों के साथ हमारी संगति का आधार यह प्राथमिकता ही है। वैसे तो भारतीय काल-विधान के अनुसार यह कलिकाल है। धर्म के चार चरणों में से एक चरण ही शेष है। धर्म का सांगोपांग, समग्र और व्यापक उन्मीलन संभव नहीं है। द्वन्द्व की स्थिति में रहना हमारी नियति है। किन्तु, हमारी प्राथमिकताएँ, हमारे झुकाव हमारी नियति को एक प्रभावपूर्ण और निर्णायक आयाम देने में सक्षम हैं।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि जब इस देश का स्वाधीनता-आन्दोलन अपना आरम्भिक स्वरूप ग्रहण कर रहा था और ब्रिटिश हुकूमत की तत्कालीन नीतियों के

सम्बन्ध में अपनी भावी दृष्टि को विकसित कर रहा था, लोकमान्य तिलक, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, आनन्द कुमारस्वामी, रविन्द्रनाथ टैगोर, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, बद्रीसाह ठुलघरिया और श्रीअरविन्द जैसी विभूतियाँ इस वैचारिक संक्रमण के दौर में हमारे लिए एक सेतु का कार्य कर रही थीं। ध्यान देने की बात है कि ये सभी विभूतियाँ अपने चित्त और मानस के स्तर पर भारतवर्ष की सनातन परम्परा में रची बसी तो थीं ही, इन्हें आधुनिक पश्चिमी/यूरोपीय मनोवृत्ति की निर्मिति के काल-क्रम का भी भली-भाँति बोध था। इन विभूतियों ने भारतवर्ष को वैचारिक संक्रमण या दुविधा के इस काल से बाहर निकलने का युक्ति-युक्त मार्ग सुझाया। ये सभी विभूतियाँ एक साथ भारत-बोध और सभ्यता-बोध से सुसम्पन्न थीं। तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' के माध्यम से, विवेकानन्द ने अपने 'कर्मयुक्त वेदान्त' के माध्यम से, गांधी ने अपने 'हिन्द स्वराज' के माध्यम से, कुमारस्वामी ने अपने 'Essays in National Idealism' के माध्यम से, टैगोर ने भारत, जापान और पश्चिम में राष्ट्रवाद सम्बन्धी अपने भाषणों के माध्यम से, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने 'Swaraj in Ideas' के माध्यम से, बद्रीशाह ने 'दैशिक-शास्त्र' के माध्यम से तथा श्री अरविन्द ने 'Foundations of Indian Culture' के माध्यम से इसी भारत-बोध और विश्व-बोध को संसूचित करने की चेष्टा की। द्रष्टव्य है कि ये सभी विचारक भारत-बोध के नाम पर अपनी राष्ट्रीय विशिष्टता का सांगोपांग संपोषण करते हुए भी न तो कभी संकीर्णता के शिकार हुए और न ही विश्व-बोध के नाम पर संपूर्ण सृष्टि के साथ एक स्वाभाविक तारतम्य स्थापित करते हुए भी कभी अमूर्तता और अव्यावहारिकता के शिकार हुए। लोकमान्य तिलक अपनी अनुपम कृति 'गीता रहस्य' में श्रीमद्भगवत्गीता में सभी सनातन शास्त्रों, मतों, पंथों, सम्प्रदायों की 'एकवाक्यता' को सिद्ध करते हुए भी औपनिवेशिक दौर में नीतियुक्त कर्मयोग को ही भारतीयों का वांछित धर्म घोषित करते हैं। इसी प्रकार, महात्मा गांधी अपनी कालजयी कृति 'हिन्द स्वराज' में जहाँ एक ओर आत्ममुग्ध पश्चिमी जगत द्वारा व्यवहृत सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की निःसारता को सिद्ध करते हुए एक प्रकार से यूरोपीय पुनर्जागरण (Renaissance) और ज्ञानोदय (Enlightenment) के परिणामस्वरूप उपजे उनकी सम्पूर्ण ज्ञान-मीमांसा (Epistemology) को ही चुनौती देते हैं, वहीं दूसरी ओर अपनी सनातन सभ्यता और संस्कृति के प्रति भारतीयों के आत्मविश्वास को पुनर्सृजित भी करते हैं। आनन्द कुमारस्वामी किसी राष्ट्र की निर्मिति में राजनीति और विपणन-व्यापार की अपेक्षा कला और विद्या की साधना को मुख्य महत्व प्रदान करते हैं। वे लिखते हैं :

It is because nations are made by artists and by poets, not by traders and politicians.

लगभग इसी प्रकार के विचार रविन्द्रनाथ टैगोर के हैं। 1916-17 के मध्य जापान और अमेरिका में दिए गए अपने भाषणों में भारतीय राष्ट्र की बुनियादी मान्यताओं का वे विशद विश्लेषण करते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि-

Our real problem in India is not political. It is social. In finding the solution of our problem we shall have helped to solve the world problem as well.

The temptation which is fatal for the strong is still more so for the weak. And I do not welcome it in our Indian life even though if be sent by the ord of the Immortals. Let our life be simple in its outer aspect and rich in its inner gain. Let our civilization take its firm stand upon its basis of social cooperation and not upon that of economic exploitation and conflict.It is a sign of laziness and impotency to accept conditions imposed upon us by others who have other ideals than ours. We should actively try to adapt the world powers to guide our history to its own perfect end.

टैगोर के ही समकालीन कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य विचार-जगत में सनातन और सापेक्ष के अनुपात का आंकलन स्वदेशी की तद्व्याप्त अवधारणा के सहारे करते हैं। वे भारतीयों को एक साथ सचेत और आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि-

The hybridisation of ideas brought about by our education and the impact of Western political, social and economic institutions on our daily life is one of the most distressing features of our present situation.It does not simply mean a confusion in the intellectual region. All vital ideas involve ideals. They embody an entire theory and an insight into life. Thought or reason may be universal, but ideas are carved out of it differently by different cultures according to their respective genius. No idea of one cultural language can exactly be translated in another cultural language. Every culture has its distinctive 'physiognomy' which is reflected in each vital idea and ideal presented by the culture.

1921 में एक महात्मा के प्रसाद-स्वरूप बद्रीसाह की पुस्तक 'दैशिक-शास्त्र' प्रकाश में आई। भारतवंशियों को उनके पराधीनता-काल में अपने देश-जाति-धर्म का बोध कराने वाली यह अद्भुत पुस्तक है। लोकमान्य तिलक को समर्पित इस पुस्तक के विषय में 'नवजीवन' में 18 फरवरी, 1923 को अपना मत व्यक्त करते हुए गांधीजी ने कहा है कि भगवद्गीता और उपनिषदों को यदि कोई राजनीति की भाषा में पढ़ना चाहें तो वे इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें तथा जिन-जिन राष्ट्रीय विद्यालयों में राजनीतिशास्त्र पढ़ाया जाता है वहाँ तो यह पाठ्य-पुस्तक के तौर पर रखे जाने योग्य है। श्री बद्रीसाह कृत 'दैशिक-शास्त्र' पाँच अध्यायों में विभक्त है। इन अध्यायों में देशभक्ति-तत्त्व, दैशिकधर्म, स्वतन्त्रता, विराट् तथा दैवीसम्पद्योगक्षेम विषयों को विभिन्न आन्हिकों में वर्णित किया गया है। बद्रीशाहकृत 'दैशिक-शास्त्र' में जाति के प्रकरण को चिति और

विराट् की धारणाओं की सहायता से स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। 'दैशिक-शास्त्र' के अनुसार किसी भी जाति के, चाहे वे भारतवंशी हों अथवा यूनानवंशी, दो तत्त्व प्रधान समझे जाते हैं—चिति और विराट्। बद्रीसाह राष्ट्र की आत्मा को 'चिति' तथा उसके ऐश्वर्य को 'विराट्' कहते हैं। उनका कहना है कि किसी भी राष्ट्र का अभ्युदय चिति के प्रकाश और विराट् की जागृति से ही संभव होता है। चिति में ही किसी राष्ट्र का सम्पूर्ण चरित्र समाहित होता है। चिति किसी जाति के चरित्र-वैशिष्ट्य की ओर इंगित करती है। जब तक चिति जागृत और निरामय रहती है तब तक जाति का अभ्युदय होता रहता है, चिति का तिरोधान होने पर अथवा उसमें किसी प्रकार का विपर्यास आने से जाति का अवपात होने लगता है और चिति का लोप हो जाने पर जाति निश्चेतन देह के समान निष्प्राण, निष्क्रिय, निष्चेष्ट हो जाती है। ऐसी चिति-शून्य जाति के लिये दूसरे की भोज्य-वस्तु बने रहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। राष्ट्रों के उदयावपात के पूर्व विराट् का उदयावपात हो जाता है और विराट् का उदयावपात होता है चिति के आविर्भाव और तिरोभाव से।

दूसरी ओर विराट् सामाजिक जीवों को प्रदत्त एक विशेष प्रकार के सहानुभूतियुक्त तेज को कहते हैं। यह तेज ही व्यष्टि को समष्टि के हितार्थ आत्मत्याग करने को प्रेरित करता है, जिससे व्यष्टियों में परस्पर सहानुभूति रहती है और समष्टि की रक्षा के लिये व्यष्टिगत शक्ति न्यूनाधिक रूप में एकीभूत होकर केन्द्रस्थ रहा करती है। ध्यातव्य है कि यह विराट् व्यक्तियों के हृदय में चिति के प्रकाश से ही जागृत होता है, चिति के अन्तर्हित होने पर विराट् का भी ह्रास होता चला जाता है। यह विराट् जाति रूपी शरीर का प्राण है। जिस प्रकार मनुष्य-देह में समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ एक प्राण के रूपान्तर होती हैं, उसी प्रकार जाति की समस्त दैशिक चेष्टाएँ उसी विराट् का रूपान्तर होती हैं। जैसे शरीर में जब तक प्राण रहता है तब तक उसमें अन्नादि से बल-संचय होता रहता है किन्तु प्राण के चले जाने पर, शरीर के चले जाने पर शरीर के तत्त्व अपने काम न आकर दूसरे के काम में आने लगते हैं।

इसी प्रकार जब तक विराट् ठीक रहता है तब तक जाति का स्वास्थ्य भी ठीक रहता है ओर जब मिथ्या आचार-विचार से विराट् का स्वरूप धुंधलाने लगता है तो जाति रूपी शरीर में स्वार्थ रूपी महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है। उसके सब अंग निस्तेज, निर्बल और प्रतिरोधहीन हो जाते हैं, सबको अपनी-अपनी सूझने लगती है, परिणामतः वह सान्निपातिक दोशों से युक्त हो जाता है और दिन-प्रतिदिन उसका शतोमुखी पतन होने लगता है। इस प्रकार, देशरूपी वस्त्र को धारण किये हुए जाति-रूपी शरीर की आत्मा चिति है और प्रकाश विराट्। चिति और विराट् का सम्यक सामंजस्य ही किसी देश की समुन्नति का अन्तर्निहित कारण है। दूसरे शब्दों में, चिति किसी राष्ट्र का चरित्र-वैशिष्ट्य है, और विराट् जागृत चिति के द्वारा मनुष्य के हृदय में उत्पन्न वह प्रकाश है जो इस वैशिष्ट्य के प्रति मनुष्य को आत्मत्याग करने की

प्रेरणा देता है। जागृत चिति के अभाव में विराट् का प्रकाश भी धुँधला पड़ जाता है और राष्ट्र का अवपात हो जाता है। इस प्रकार, देश अथवा राष्ट्र जातीयता की प्रतिष्ठा है। अतः किसी राष्ट्र की चिति को जागृत और निरामय रखने के लिए उच्चकोटि के कर्मयोग की आवश्यकता होती है, बद्रीसाह इसीको दैशिक-धर्म कहते हैं।

जहाँ तक श्री अरविन्द का प्रश्न है, उनका अवतरण भारतीय विचार-प्रवाह के ऐसे संधिकाल में होता है जब 'भारतीय पुनर्जागरण' से सम्बद्ध सभी गुत्थमगुत्था धाराएँ बड़े वेग से प्रवाहमान हो रही थीं। इस प्रवाहमान वेग में हम अपनी बहुत सारी विशेषताओं को विस्मृत या अर्थान्तरित करते चले गए, किन्तु साथ ही अपनी बहुत सारी विशिष्टताओं का पुनर्स्मरण करने और उन्हें प्रतिष्ठित करने की ओर उद्यत भी हुए। श्री अरविन्द प्राच्य और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं की बौद्धिक विशेषताओं और सामाजिक गतिशीलता के अप्रतिम अध्येता रहे हैं। इसी कारण उनकी प्रामाणिकता हमारे लिए असंदिग्ध है और उनकी उपादेयता व्यापक।

श्री अरविन्द ने अपनी पुस्तक Foundations of Indian Culture में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के ऊपर विलियम आर्चर द्वारा किए गए आक्षेपों का विषद प्रत्युत्तर दिया है। विलियम आर्चर ने भारत के सम्पूर्ण जीवन एवं संस्कृति पर आक्रमण करते हुए उसकी महान से महान उपलब्धियों यथा दर्शन, धर्म, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उपनिषद्, रामायण और महाभारत सभी को एक साथ एक ही कोटि में रखकर सभी के बारे में यह कह डाला कि ये 'अवर्णनीय बर्बरता का एक घृणास्पद स्तूप' है। आर्चर के इस आक्रामक आक्षेप का प्रतिवाद करने के लिए श्री अरविन्द ने अपनी इस पुस्तक में जहाँ भारतीय आध्यात्मिकता, कला, साहित्य और शासन-प्रणाली जैसे आधारभूत विषयों पर सारगर्भित, व्यवस्थित और विशद व्याख्या प्रस्तुत की, वहीं उन्होंने भारतीय संस्कृति पर पड़ने वाले बाह्य प्रभाव का भी समीचीन आंकलन किया है। तत्कालीन सन्दर्भों के परे श्री अरविन्द का शाश्वत महत्व इस तथ्य में निहित है कि आज भी आधुनिकता की चकाचौंध और उत्तर-आधुनिकता की छिन्न-भिन्न मान्यताओं से आक्रान्त एक भारतीय अपनी प्रेरणाओं और अपने गन्तव्य के प्रति घनघोर मतिभ्रम का शिकार है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में केवल पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसे विचारक दिखायी देते हैं जो इन शाश्वत महत्व के विषयों पर व्यवस्थित रूप से विचार करते हैं। अप्रैल 1965 में बम्बई में दिए गए उनके चार व्याख्यानों को प्रत्येक विद्यार्थी, शिक्षक, नीति-निर्माता, विचारक और राजनेता को अवश्य पढ़ना चाहिए। 'एकात्म मानववाद' के प्रतिपादन के क्रम में उन्होंने भारतीय इतिहास-बोध, राष्ट्र-बोध और विश्व-बोध का जो अन्योन्याश्रित सम्बन्ध उद्घाटित किया है, वैसा अध्ययन या वैसी प्रस्तुति स्वतंत्र भारत के राजनेताओं के लिए दुर्लभ है। जे.पी. आन्दोलन के बाद यह अंधकार और भी घनीभूत होता दिखायी देता है।

बहुदलीय सरकारों के युग को राजनीति में सहमति का युग कहा जाता है। इन विचारकों का स्मरण करते हुए हमारे राजनेता, शिक्षक और निति-नियन्ता सहमति के इस आधारभूत सिद्धान्त को कब समझेंगे–

But politics and economics, although they cannot be ignored, are the most external and the least part of our problem; it is not through them that understanding and agreement can be reached, but on the contrary, through understanding that the political and economic problems can be solved.

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साठ और सत्तर के दशक तक जो राजनेता भारतीय राजनीति के पटल पर उदित हुए उन्हें विश्व-इतिहास और सभ्यताओं के प्रवाह का एक क्रमबद्ध और सुसंबद्ध बोध था। उस पूरे परिप्रेक्ष्य के सापेक्ष वे तत्कालीन भारतवर्ष को रखने-देखने का प्रयास करते थे। दुर्भाग्य से जे.पी. आन्दोलन के बाद भारतवर्ष में राजनेताओं की एक ऐसी नस्ल पैदा हुई जो विश्व-इतिहास कौन कहे, अपनी ही सभ्यता-संस्कृति के प्रति या तो बेगानी थी या फिर आत्म-ग्लानि से भरी हुई।

परम्परानिष्ठ भारतीयमनीषियों ने यह मौलिक प्रश्न उठाया कि आधुनिक पश्चिमी चिन्तन की अवधारणाओं को प्राचीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन पर आरोपित करना भारतीय चिन्तन के स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल है या नहीं?

परम्परानिष्ठ भारतीय मनीशीपश्चिमी राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ-साथ राज्य और व्यक्ति के संबंधों का भी गहन विश्लेषण करते हैं और वे आधुनिक पश्चिमी मानदण्डों की सार्वभौमिकता के दावे को सिरे से नकार देते हैं। ज्ञान की अक्षुण्ण परम्परा में मनुष्य-मात्र की भागीदारी का समर्थन तो वे करते हैं, किन्तु अपने विशिष्ट अतीत और अपने विशिष्ट राष्ट्रीय सन्दर्भों का उनके लिए विशेष महत्व है। वे पश्चिमी राष्ट्रवाद और विश्वशांति तथा लोकतंत्र और समाजवाद की अवधारणाओं के मध्य विसंगति भी रेखांकित करते हैं और इन सबके सापेक्ष भारतीय संस्कृति को तादात्म्यमूलक और एकात्मपरक मानते हैं। परम्परागत भारतीय संस्कृति में अपने मूलभाव तथा जीवन सम्बन्धी अपने विचार को कार्यरूप देने के लिये वर्णाश्रमधर्म-विधान है। वस्तुतः 'संस्कृति' शब्द का तात्पर्य ही भूषणभूत सम्यक कृतियों या चेष्टाओं का सार-समुच्चय है। भूषणभूत सम्यक् कृतियों या चेष्टाओं का सम्पूर्ण क्षेत्र ही संस्कृति का क्षेत्र है। जिन चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करे, वे चेष्टाएँ ही उसके लिये भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ कही जा सकती हैं। अथवा, मनुष्य की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल चेष्टाएँ ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। या, मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में लौकिक-पारलौकिक

अभ्युदय के अनुकूल देहेन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्ताहंकार की चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है। देहेन्द्रिय की समस्त चेष्टाएँ 'आचार' के क्षेत्र में और मन-बुद्धि, चित्ताहंकार की चेष्टाएँ 'विचार' के क्षेत्र में आती हैं, इसलिए संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।

इस दृष्टि से किसी जाति के लिये लौकिक-पारलौकिक विश्वास का आधार उस जाति का दर्षनशास्त्र होता है। इसी दर्शनशास्त्र के अनुरूप उस जाति का आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र होता है जो विधि-निशेधात्मक, कर्तव्याकर्तव्य-सम्बन्धी आज्ञाप्रदायक, कर्मपरक होता है। किसी जाति का धर्मशास्त्र अपने दर्षनशास्त्र-प्रतिपादित लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय में सहायक जिन कर्मों या आचार-विचारों का विधान करता है, वे कर्म ही उस जाति के लिये कर्तव्य होते हैं और उन्हीं के द्वारा वह जाति अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नति मानती है। स्पष्टतः, किसी जाति के धर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित आचार-विचार ही उस जाति की संस्कृति का स्वरूप होता है। अतएव, परम्परा में संस्कृति का आधार शास्त्र या धर्मग्रन्थ को ही माना गया है।

यहाँ 'जाति' शब्द का अर्थ-संकेत करना भी समीचीन होगा। जाति शब्द का अर्थ यहाँ समान मानसिक प्रवृत्ति वाले उस जन-समुदाय से है जिसे एक समान प्राकृतिक निमित्ति प्राप्त हो। केवल रीति, भाषा अथवा सत्ता के आधार पर निर्मित 'नेशन' आदि कृत्रिम शब्द 'जाति' का उद्‌बोध कराने में अक्षम हैं। भारतीय दैशिक-शास्त्र के अनुसार जाति सहज, सावयव व आधिजीवक सृष्टि है। यूनानी परम्परा में प्लेटो के 'नेचर ऑफ थिंग्स' के सिद्धांत में इस अवधारणा की समीपतम सादृष्यता देखी जा सकती है। संस्कृत वाङ्मय में 'राष्ट्र' शब्द का मनोभाव भी इसके समीपस्थ है।

व्यक्ति बनाम समाज की आधुनिक पश्चिमी धारणा के विपरीत भारतीय दृष्टि से राष्ट्र किसी भी भौतिक क्षेत्र-विशेष में लोगों के सहअस्तित्व से बढ़कर है। सनातन दृष्टि के अनुसार राष्ट्र का एक अर्थ 'ग्राम' किया गया है। ग्राम से तात्पर्य ऐसे स्थान से है जहाँ व्यक्ति को विश्रान्ति प्राप्त हो सके और विश्रान्ति व्यक्ति को वहीं प्राप्त हो सकती है जहाँ की प्रकृति के साथ उसका स्वाभाविक आत्मीय तादात्म्य स्थापित हो सके। इसी अभ्रिप्राय से राष्ट्र उस भूमि को कहा गया है जिसके साथ व्यक्ति का मातृसम ममत्व स्थापित हो सके। व्यक्ति और संस्थाओं के अन्तर्सम्बंधों के निरूपण के सम्बन्ध में यहाँ सार्वभौमिकता की उस सनातन दृष्टि (*Philosophia perennis*) का अनुगमन किया गया है जिसके अनुसार परिवार, कुल, जाति और राष्ट्र जैसी संस्थाएँ मनुष्य की नैसर्गिक प्रगति में बाधक न होकर उसकी स्वाभाविक परिपूर्णता और उर्ध्वगामिता की महत्वपूर्ण पथप्रदर्शक होती हैं।

जहाँ तक भारतीय/राष्ट्रीय शिक्षा की संकल्पना और उसके स्वरूप का प्रश्न है, हमें भारतीय/राष्ट्रीय शिक्षा के अभिप्राय, स्वरूप और तद्‌नुरूप विधान के सम्बन्ध में सूत्रवत रूप से स्पष्ट होना चाहिए।

- किसी राष्ट्र की जीवन-दृष्टि के अनुरूप उसके नागरिकों को ढालने की विधा ही शिक्षा है - स्वाभाविक ही शिक्षा का स्वरूप राष्ट्रीय ही होगा।
- अतः, जीवन-दृष्टि (विश्व-दृष्टि) - शिक्षा-दृष्टि - शोध-दृष्टि में एकसूत्रता और तारतम्यता अनिवार्य है।
- इस अर्थ में शिक्षा का प्रश्न एक संस्कृतिपरक-सभ्यतापरक प्रश्न भी है।
- भारत एक धर्मप्राण अधिष्ठान है - यहाँ धर्म का लोक-विग्रह ही संस्कृति और संस्कृति का लोक-विग्रह ही सभ्यता है।
- यह भारतीय अधिष्ठान एक विशिष्ट जिज्ञासा-केन्द्रित अधिष्ठान है। यह जिज्ञासा है - मैं कौन हूँ - आत्मबोध यहाँ की मूल-जिज्ञासा है - आत्मबोध की प्रकृति ही एकात्मबोधमय है- यह केन्द्रीय विचार समग्र भारतीय जीवन-विधान के दौरान अवान्तर कथा की तरह विद्यमान रहता है। इसी की चाह किसी भी भारतीय उपक्रम का औचित्य तय करती है।
- अतः, भारतीय अधिष्ठान एक आत्मबोध-मूलक अधिष्ठान है।
- अतः, शिक्षा का प्रयोजन आत्मबोध की इस दृष्टि के अनुरूप मनुष्य को गढ़ने में निहित है।
- दूसरे शब्दों में, शिक्षा यहाँ मनुष्य को आत्मबोध के लिए सुपात्र बनाने की कला है।
- अतः, यहाँ की शोध-दृष्टि या विद्या-साधना भी तद्नुरूप ही होनी चाहिए।
- भारत में विद्याएं ब्रह्मविद्या का अंश मानी गयी हैं। उनका महत्व ब्रह्मविद्या का अंश होने के कारण ही है। शिक्षा इसी ब्रह्मविद्या की मीमांसा है। देवता इन विद्याओं के अधिष्ठान हैं तथा शब्द या शास्त्र इनके प्रमाण हैं।
- इसीलिए किसी व्यवस्था या विचार का धर्मसम्मत या शास्त्रसम्मत होना यहाँ अपरिहार्य माना गया है।
- ब्रह्मविद्या का स्वरूप साधनागम्य या तप-मूलक है - अतः विद्या या शिक्षा का स्वरूप भी यहाँ साधनालभ्य या तपोद्भूत है।
- ऋषि यहाँ वह तपः पुंज है, जिसने विद्या का साक्षात्कार किया है, जो विद्या का साक्षात्, सम्मुख द्रष्टा है।
- भारत में ऋषि-प्रणीत और शास्त्र-प्रणीत शुद्ध विद्या की मीमांसाका एक राजपथ है जिस पर आधिकारिक गुरुओं और सुपात्र शिष्यों की स्वायत्त अथवा सम्प्रदायबद्ध परम्परा चलती रही है।
- इस शास्त्रीय परम्परा के प्रथम सिद्धांत कर्म और पुनर्जन्म, त्रिगुणात्मकता, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ और ऋण-त्र्य के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।
- इस प्रथम सिद्धांत (First Principle) युक्त शास्त्रीय परम्परा के आलोक में जीवन्त लोक-परम्परा के उपमार्ग भी भारत में विद्यमान रहे हैं।

- जीवन-दृष्टि, शास्त्र और लोक-परम्परा - तीनों एक साथ प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित होते हैं। (शिक्षा की भारतीय दृष्टि नहीं, जीवन की भारतीय दृष्टि के प्रति ही हमारा आग्रह/अनुराग नहीं रहा, इसीलिए शास्त्र, शिक्षा, समाज, अर्थ, राज्य—किसी की भी भारतीय दृष्टि के प्रति हमारा आग्रह/अनुराग नहीं रहा।)
- अतः, शास्त्र या धर्म के प्रकाष से प्रकाशित/आलोकित जन को ही यहाँ 'लोक' कहा गया है।
- समाज, अर्थ और राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था इसी शास्त्रनुशासन और जन-आलोकन का माध्यम है।
- दूसरे शब्दों में, शुद्ध विद्याओं का साधना-परिवेष भी तद्नुरूप ही परिष्कृत होना चाहिए। अपरिष्कृत संस्थाओं में अथवा विजातीय परिवेष में शुद्ध विद्याओं की साधना नहीं हो सकती।
- कलिकाल में शुद्धता, समग्रता व व्यापकता एक साथ संभव नहीं, द्वन्द्व इसकी नियति है। किन्तु विचार के स्तर पर यथासंभव परिशुद्धता आवश्यक है, ऐसा होने पर आचरण के स्तर पर प्राथमिकताओं और नीति से काम लिया जा सकता है।

शिक्षा को भारतीय अथवा राष्ट्रीय मानने का उपक्रम एक सभ्यतायी उपक्रम है। यह सभ्यता की दिशा तय करने वाली दो विश्व-दृष्टियों - सनातन और आधुनिक - के मध्य मूलभूत अंतर के आधार पर तय होने वाला उपक्रम है। आधुनिक विश्व-दृष्टि के विपरीत भारतीय-सनातन परम्परा में जीवन की एकात्मता का आधार वह ऋत है जो व्यष्टि और समष्टि के संरचनात्मक सिद्धांत को अभिव्यक्त करता है। ऋत ही वास्तविकता की वह पृष्ठभूमि है जिसमें व्यष्टि और समष्टि का अन्तर्सम्बंध प्रवाहमान रहता है। ऋत, जिसे आगे चलकर धर्म कहा गया, इस प्रवाहमान व्यवस्था का प्रतिमान तो है ही, यह इकाईयों में व्यवस्था का कारण भी है। जहाँ एक ओर इन इकाईयों में प्रतिबिम्बित हुए बिना एकात्म की, समग्र की कोई इयत्ता नहीं है, वहीं दूसरी ओर पारस्परिक सम्बद्धता और समग्र से सम्पृक्तता के अभाव में इन इकाईयों की भी कोई महत्ता नहीं है। अतः ऋत के अनुवर्त्तन का आधार यह मान्यता है कि मनुष्य का सम्यक परिचय उस वृहत् व्यवस्था के सदस्य के रूप में ही मिल सकता है। भारतीय परम्परा में जाति-व्यवस्था के सामाजिक प्रष्न को भी इसी सनातन दृष्टि से स्पष्ट किया गया है। यहाँ जातियों को भी एकात्मक परम विराट् की ही अभिव्यक्ति माना गया है। यहाँ इस बात को अच्छी तरह समझा गया है कि भारतीय जीवन-विधान का आधार ही वर्णाश्रम और पुरुषार्थचतुष्ट्य है। ब्रह्म का त्रिगुणात्मक विवर्त्त और कर्म का सिद्धांत जहाँ वर्णाश्रम के परातात्त्विक (Metaphysical) आधार हैं, वहीं ऋणत्र्य का सिद्धांत पुरुषार्थचतुष्ट्य का। इसीलिए यह अनायास नहीं है कि राजशास्त्र

का स्वरूप-निदर्शन करते हुए इसके आचार्यों ने भारतीय जीवन-विधान के इन आधारों की रक्षा को राज्य का परम दायित्व बताया है। वस्तुतः, राजशास्त्र समष्टि का शास्त्र है। इसका उपयोग समष्टि हेतु सामाजिक विपर्ययों का प्रतिकार करने में है। राजनीति के प्रयोग से व्यक्ति अथवा समाज के बाह्याभ्यन्तरिक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विषयों में साम्य स्थापित हो जाता है और व्यष्टिगत और समष्टिगत हितों का संयोग हो जाता है। वर्णाश्रम की दृष्टि से इसी कारण समाज के हितार्थ ब्राह्मण दारिद्र्य को, क्षत्रिय प्राण-संशय को, वैश्य चिंता को और शूद्र सेवा को आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं। मान के साथ दारिद्र्य, ऐश्वर्य के साथ प्राण-संशय, श्री के साथ भार, नैश्चिन्त्य के साथ विनय का संयोग होने से ब्राह्मण अभिमानी, क्षत्रि उच्छृंखल, वैष्य दुर्व्यसनी और शूद्र असन्तोशी नहीं होने पाते, फलतः समष्टि में सर्वत्र साम्य व्याप्त रहता है।

चूँकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति इसी सनातन एकात्म परम्परा का लोक-विग्रह है। इसीलिए यहाँ 'अर्थ' का भी विशेष प्रयोजन है। आधुनिक युग, जिसे अर्थ-प्रधान कहा गया है, वह वस्तुतः अनर्थ-प्रधान है। कृष्ण-यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त में अर्थ-स्वरूपा लक्ष्मी को जगतपालक श्री विष्णु की द्वितीय पत्नी ह्री, अर्थात् लज्जा के साथ स्मरण किया गया है। यह लज्जा साधारण लज्जा नहीं है। इसका प्रधान केंद्रस्थान भारतवर्षीय धर्माचरणशील समाज है जिसे अनादिकाल से शास्त्रज्ञा का उल्लंघन करने में लज्जा का अनुभव होता है। केवल ऐसे धर्मशील, लज्जाशील, 'ह्री'—युक्त समाज में ही 'श्री' का निवास हो सकता है। अपने आचरण से च्युत निर्लज्ज समाज के 'अर्थ' को आप व्यवस्थित कर ही नहीं सकते। यहाँ आचार्य कौटिल्य के इस नीति-सूत्र का पुरजोर समर्थन किया गया है कि सुखस्यमूलं धर्मः, धर्मस्यमूलं अर्थः, अर्थस्यमूलं राज्यः। राज्य का यह अनिवार्य दायित्व माना गया है कि वह इस प्रकार की अर्थव्यवस्था करे जिससे लोग अपने धर्म का पालन कर सकें, क्योंकि अर्थ की प्रकृति, अर्थ का प्रभाव या अर्थ का अभाव वे परिस्थितियाँ हैं जो लोगों के धर्मपालन हेतु उपयुक्त वातावरण का निर्माण करने में महत्वपूर्ण हैं। सुसाध्य आजीविका का हमारे 'दैषिक-शास्त्र' में महत्वपूर्ण स्थान है। इसी अभिप्राय से आनन्द कुमारस्वामी ने स्वदेषी को 'Sincerity' कहा है।

भारत में राज्य-व्यवस्था का औपकरणीय महत्व है। यह भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुरूप मनुष्य को उसका परम लक्ष्य प्रदान कराने वाली व्यवस्था की रक्षक अथवा कंटकशोधक है। भारत एक धर्मप्राण अधिष्ठान है - यहाँ धर्म का लोक-विग्रह ही संस्कृति अथवा सभ्यता है। जैसा पहले कहा गया है, यह भारतीय अधिष्ठान एक विषिष्ट जिज्ञासा-केन्द्रित अधिष्ठान है। यह जिज्ञासा है - मैं कौन हूँ - आत्मबोध यहाँ की मूल-जिज्ञासा है - आत्मबोध की प्रकृति ही एकात्मबोधमय है- यह केन्द्रीय विचार

समग्र भारतीय जीवन-विधान के दौरान अवान्तर कथा की तरह विद्यमान रहता है। इसी की चाह किसी भी भारतीय उपक्रम का औचित्य तय करती है। अतः, भारतीय अधिष्ठान एक आत्मबोध-मूलक अधिष्ठान है। धर्म(अथवा षिक्षा) का प्रयोजन आत्मबोध की इस दृष्टि के अनुरूप मनुष्य को गढ़ने में निहित है। दूसरे शब्दों में, धर्म यहाँ मनुष्य को आत्मबोध के लिए सुपात्र बनाने की कला है। धर्म की इसी व्यवस्था को यहाँ ऋत (order) कहा गया है। राज-विद्या इसी धर्म-व्यवस्था की रक्षक/परिपोषक है। भारत में विद्याएं ब्रह्मविद्या का अंश मानी गयी हैं। उनका महत्व ब्रह्मविद्या का अंश होने के कारण ही है। देवता इन विद्याओं के अधिष्ठान हैं तथा शब्द या शास्त्र इनके प्रमाण हैं। इसीलिए किसी व्यवस्था या विचार का धर्मसम्मत या शास्त्रसम्मत होना यहाँ अपरिहार्य माना गया है। इसी प्रयोजन से भारतीय राजशास्त्र में समस्त शास्त्रों के सांगोपांग निर्णय और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण हेतु धर्ममूलक त्र्यी का विधान है, संघ-शास्त्रनुष्ठान की एकता हेतु अर्थमूलक वार्त्ता का विधान है, योगक्षेम की रक्षा हेतु राज्यमूलक दण्डनीति का विधान है तथा बुद्धि का स्थैर्य स्थापित करते हुए पारस्परिक द्वन्द्वों का समाधान करने हेतु विद्यामूलक आन्वीक्षिकी का विधान है। ब्रह्मविद्या का स्वरूप साधनागम्य या तप-मूलक है - अतः विद्या का स्वरूप भी यहाँ साधनालभ्य या तपोद्भूत है। ऋषि यहाँ वह तपः पुंज है, जिसने विद्या का साक्षात्कार किया है, जो विद्या का साक्षात्, सम्मुख द्रष्टा है। भारत में ऋषि-प्रणीत और शास्त्र-प्रणीत शुद्ध विद्या की मीमांसा का एक राजपथ है जिसपर आधिकारिक गुरुओं और सुपात्र शिष्यों की स्वायत्त अथवा सम्प्रदायबद्ध परम्परा चलती रही है।

इस शास्त्रीय परम्परा के प्रथम सिद्धांत कर्म और पुनर्जन्म, चराचर का विचार, पुरुष-प्रकृति-संबंध, त्रिगुणात्मकता, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ और ऋण-त्र्य के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यही प्रथम सिद्धांत आचरण और विधि-निशेध के व्यवहार का आधार हैं। गुण का प्रश्न तात्त्विक प्रश्न है, यह अस्तित्व का दर्शन है तथा इस पर आधारित वर्णाश्रम का मुख्य प्रयोजन वृत्ति का संरक्षण है और इसका अनुपालन राज्य का आधारभूत कर्त्तव्य है। स्पष्ट ही ये व्यवस्थाएं मनुष्य की इच्छा, कामना अथवा परिस्थिति की उपज नहीं हैं।

भारतीय राज्य-व्यवस्था का स्वरूप आधुनिक राज्य की भाँति न तो शक्ति-केन्द्रित है और न ही संरचना-मूलक, वरन् यह तत्त्व-प्रधान है। सनातन धर्म के ये प्रथम सिद्धांत ही इस तत्त्व की प्रकृति का निरूपण करते हैं। यह उल्लेखनीय है की जो रामराज्य भारतीय राज्य-व्यवस्था का आदर्ष माना जाता है उसमें राजा और राज्य का संबंध जीवन-मरण का संबंध है। भगवान राम अपनी समस्त प्रजा की मोक्ष की कामना के साथ राज्य करते हैं। यह राम की अविचल धर्मनिष्ठा, उनके तप, तेज और प्रताप का प्रभाव है कि उनकी प्रजा भी धर्मनिष्ठ और निश्चिंत है, उनके राज्य में देवता

और पितर संतुष्ट हैं तथा परिणामस्वरूप प्रकृति मनोरम है, जीवन समृद्ध है और राज्य स्थिर है।

इसी प्रकार, यहाँ लोकतंत्र का तात्त्विक अर्थ भी केवल विकेंद्रीकरण तक सीमित नहीं है। 'लोक' का तात्पर्य धर्म के प्रकाश से, चिति के प्रकाश से 'आलोकित' जन से है। केवल ऐसे ही जन का सुशासन संभव है, केवल ऐसे ही 'लोक' का 'तंत्र' सम्भव है। धर्म के आलोक के अभाव में शासन की व्यवस्था चाहे केन्द्रित हो अथवा विकेन्द्रित - एक निरंकुशता को जन्म देगी तो दूसरी अराजकता को। आधुनिक व्यवस्था में जिसे लोकतंत्र कहा जाता है वह एक संदर्भहीन और विसंगतिपूर्ण व्यवस्था है। यह आम मनुष्य की असहमति-आधारित मतगणना पर आधारित वह व्यवस्था है जो श्रेष्ठता और योग्यता की सामाजिक स्वीकृति का अन्य कोई आधार नहीं मानती। मनुष्य और परिवार के आधार पर असहमति को बढ़ावा देने वाली यह व्यवस्था राष्ट्र के निर्णायक प्रश्नों के संबंध में सहमति की असंभव खोज करती फिरती है।

भारतीय राज्य-व्यवस्था की पुनर्प्रतिष्ठा करने की दिशा में सबसे प्रमुख आवश्यकता यह है कि अपने वैचारिक अधिष्ठानों को शुद्ध करने का प्रयास किया जाए। आधुनिक युग के विचारों और विचारकों के बारे में बहुत सावधानी और सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। हम इस युग की अवहेलना भी नहीं कर सकते क्योंकि आधनिक युग के चुनौतीपूर्ण प्रश्नों को समझने के लिए इस युग की गत्यात्मकता की समझ भी अपरिहार्य है। हमारे राजनीतिक विमर्ष में कई ऐसी अभारतीय और अपरम्परागत अवधारणाएँ प्रविष्ट करा दी गई हैं जो भारतीय संदर्भों से रहित हैं किन्तु उन्हें भारतीय शब्द प्रदान कर दिया गया है। Democracy के लिए लोकतंत्र, Liberalism के लिए उदारवाद, Right के लिए अधिकार, Sovereignty के लिए संप्रभुता, Freedom of Choice के लिए स्वतंत्रता, Equality के लिए समानता, Justice के लिए न्याय, Welfare State के लिए कल्याणकारी राज्य, Law के लिए विधि तथा Tolerance के लिए सहिष्णुता इसी प्रकार के अर्थ-विपर्ययुक्त तथा संदर्भहीन प्रयोग हैं। इसके विपरीत भारतीय राज्य-व्यवस्था को समझने के लिए जिन आधारभूत प्रत्ययों और संदर्भों की अपरिहार्यता है उनके आधुनिक पर्याय अनुपलब्ध होने की दषा में उन्हें अकादमिक विमर्श से लगभग बाहर कर दिया गया है। ऋत, चिति, विराट्, अभ्युदय, देष, राष्ट्र, जाति, प्रताप, ऐश्वर्य, तेज, तप, पुरुषार्थ, गुण, ऋण, अर्थ, विज्ञान, संस्कृति, इतिहास तथा काल और काल-बोध से संबंधित अवधारणाओं को इस श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है। अतः इन शब्दों के पुनर्परिभाषीकरण तथा स्वपरिभाषी करण की महती आवश्यकता है। इसी प्रकार परम्परागत भारतीय दृष्टि से विषयों और विचारों तथा उनके अन्तर्सम्बंधों का अध्ययन भी आवश्यक है। कुल मिलाकर आधुनिक विश्व-दृष्टि का विकास-क्रम, उसकी चुनौतियों, भारतीय विचार-दृष्टि पर उसके प्रभाव तथा उसके प्रत्युत्तर का समानस्तरीय प्रयास करने की आवश्यकता है।

यदि व्यापक राजनीतिक फलक पर इन विचारों का अनुप्रयोग संभव न हो तो सामुदायिक, सांस्कृतिक और अकादमिक फलक पर इनके प्रयोग को आत्मविश्वासपूर्वक आरम्भ करने की आवश्यकता है।

अतः, राष्ट्र की भारतीय अवधारणा को धर्म, संस्कृति, शिक्षा, समाज और राजनीति की सनातन धारणाओं के व्यापक और समेकित फलक पर ही समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

सहायक संदर्भः

1. A.K. Coomaraswamy: *Essays in National Idealism*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1981 (Originally puiblished in 1909).
2. A.K. Coomaraswamy: *East and West and Other Essays*, Ola Books Ltd., Colombo, 1940.
3. मो.क. गांधीय : *हिन्द स्वराज.*
4. बाल गंगाधर तिलक : *गीता रहस्य.*
5. Rabindranath Tagore: *Nationalism*, Macmillan, Madras,1985(Originally published in 1917).
6. बद्रीशाह ठुलघरिया : *दैशिक-शास्त्र* चित्रशाला प्रेस, पूना, 1921.
7. स्वामी करपात्रेजी : *मार्क्सवाद और रामराज्य,* गीताप्रेस, गोरखपुर, 1957.
8. A.O. Lovejoy: *The Great Chain of Being*, The Harvard University Press, Cambridge (USA), 1957.
9. दीनदयाल उपाध्यायः *एकात्म मानववाद पर चार व्याख्यान,* बम्बई, 22-25 अप्रैल, 1965.
10. Gopinath Kaviraj: *Aspects of Indian Thought*, University of Burdwan, Burdwan, 1966.
11. श्री अरविन्द : *भारतीय संस्कृति के आधार,* श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 1968.
12. Simone Weil: *The Need for Roots*, Routledge Classics, London and New York, 2002.
13. Ramashray Roy: Modernity and the Search for Wholeness (*Sarvata*), *Second Ananda Coomaraswamy Lecture*, Coomaraswamy Centre for Traditional Studies, Lucknow, August 21, 2010.
14. राकेश मिश्र : 'भारतीय पुनर्जागरण एवं आनन्द कुमारस्वामी', *तत्त्व-सिन्धु,* कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ, 2014.

रामायण का सत्य और महाभारत का धर्म

अम्बिकादत्त शर्मा*

कोई भी महाकाव्य किसी संस्कृति और सभ्यता का एक वाङ्मय-विग्रह होता है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बड़े फलक पर जीवनानुभव का अवलोकन और अवगाहन है। यह अवगाहन बाह्य-दर्शक की भूमिका में न किया जाकर अंतरंग चित्तभूमि पर किया जाता है। इसी के चलते महाकाव्यों में इतिहास को सन्दर्भित करने वाले एक कथानक के माध्यम से सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्विरोधों, अन्तर्द्वन्द्वों, जटिलताओं और इतिहास की प्रयोजनमूलकता का आदर्शोन्मुख समाधान उस संस्कृति की विश्वदृष्टि के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में सम्भव हो पाता है। अतः महाकाव्यों में एक आदर्शोन्मुखी जीवन-दृष्टि निरपवाद रूप से रूपायित तो होती है लेकिन उनकी आदर्श-चेतना एक जैसी हो, यह आवश्यक नहीं। यहाँ तक कि एक ही सांस्कृतिक परम्परा के दो या दो से अधिक महाकाव्यों की आदर्श-चेतना में गहरे भेद के लक्षण देखे जा सकते हैं। इस भेद का कारण महाकाव्यों के प्रस्थान बिन्दु का भिन्न-भिन्न होना है। वस्तुतः इसी भिन्नता में महाकाव्यों की निजी विशिष्टता निहित होती है। यह प्रस्थान-भेद तत्तद् महाकाव्यों के कथानक, इतिहास बोध और रचना काल से निर्धारित नहीं होता बल्कि उस आधारभूत मूल्यबोध से निर्धारित होता है जिसे नींव का पत्थर बनाकर महाकाव्यों में मूल्यव्यवस्था का एक प्रासाद, एक वाङ्मय-विग्रह तैयार किया जाता है। महाकाव्यों के नायकों के जीवन-चरित अथवा उनकी भूमिका के द्वारा जिस मूल्य या आदर्श को प्रतिष्ठापित किया जाता है, उसी से प्रस्थान-भेद को पहचानना सम्भव हो पाता है।

I

भारतीय परम्परा में रामायण और महाभारत वाल्मीकि और वेदव्यास रचित दो ऐसे महाकाव्य हैं जिनके माध्यम से दो युगों की आर्ष-संस्कृति अपनी सोलहों कलाओं के

* प्रोफेसर, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

साथ वाग्-विग्रहित हुई है। वाणविद्ध क्रौंच मिथुन के शोक से निःसृत रामायण के चौबीस हजार श्लोक मानो ''सप्तभिर्युक्तं तंत्रीलयसमन्वितम्'' हैं।[1] महाभारत के विषय में स्वयं वेदव्यास ने कहा है- ''यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'' अर्थात् जो महाभारत में नहीं वह कहीं भी नहीं है।[2] आर्ष-संस्कृति का आदर्श है—देवो भूत्वा देवं यजेत्। इसलिए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उचित ही कहा है कि ''रामायण में देवता अपने को खर्व बनाकर मानव नहीं बने, अपितु मानव स्वयं ही गुणों से देवता बन गया।''[3] ऐसे ही श्रीअरविन्द का कथन है कि ''भारतवासी की कल्पना में रामायण मनुष्य-चरित्र के श्रेष्ठतम और मधुरतम आदर्श की प्रतिमूर्ति है।''[4] परन्तु हिमालय के शिखरों और साधुओं से घिरे कैलास चूड़ से तुलनीय 'महाभारत' और शिव की जटाओं में जड़ित 'तपोस्तेपे तपोधना जाह्णवी' से उपमेय 'रामायण' का प्रतिपाद्य और प्रस्थान बिन्दु एक ही नहीं है। इतना ही नहीं, गायत्री स्वरूपा 'रामायण'[5] और नानापुराणनिगमागम सम्मत 'रामचरितमानस' की कथावस्तु बहुत अंशों में एक होते हुए भी दोनों के प्रतिपाद्य और प्रस्थान बिन्दु अलग-अलग हैं।

वाल्मीकि रामायण 'सत्य' का प्रतिष्ठापक महाकाव्य है और महाभारत में अद्यतन 'धर्म' की प्रतिष्ठा की गई है। एक में भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण मूल्य-व्यवस्था और आदर्श-चेतना को सत्य में मूलित किया गया है तो दूसरे में वह पूरे तौर से धर्माधारित है। रामायण का महामंत्र और मूलमित्ति 'धर्मः सत्यपरोलोके'[6] है तो महाभारत का मूलमंत्र 'यतोधर्मस्ततो जयः'[7] है। दोनों महाकाव्यों के दो महानायक यद्यपि परमब्रह्म परमात्मा के अवतार हैं फिर भी सत्याधृति यदि दाशरथी राम का उपलक्ष्यक गुण है तो धर्माधृति योगेश्वर कृष्ण का व्यावर्तक लक्षण है। इसलिए यह कहना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि रामायण की फलश्रुति सत्यनिष्ठा में है और महाभारत का पर्यवसान धर्मनिष्ठा में होता है।[8] परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि दोनों महाकाव्यों की निज निष्ठा में सत्य और धर्म परस्पर एक दूसरे के परिहारक हैं। वस्तुतः दोनों महाकाव्यों की मूलभूत समस्या सत्य और धर्म का एक दूसरे में अवधारणात्मक रूपान्तरण के द्वारा दो युगों को सन्दर्भ बनाकर एक दूसरे की वरीयता को स्थापित करना है। रामायण में धर्म को सत्य में (सत्याधारित धर्म) और महाभारत में सत्य को धर्म में (धर्माधारित सत्य) रूपान्तरित किया गया है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति और सभ्यता में 'सत्य' और 'धर्म' मूल्यबोध के दो परस्पर स्वायत्त प्रतिमान हैं। इसलिए भारतीय परम्परा में यदि कुछ ऐसा है जो सत्य अथवा धर्म में मूलित या फिर उनसे अनुप्राणित नहीं है तो वह कितना भी मूल्यवान क्यों न हो, वह अभारतीय जैसा ही कुछ होगा।

रामायण की रचना करने से पूर्व वाल्मीकि ने नारद जी से पूछा है कि सम्प्रति संसार में गुणवान, वीर्यवान, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता और दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष कौन है? इसके उत्तर में नारद जी ने राम के चरित्र का बखान करते हुए वस्तुतः रामकथा को

संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। राम के व्यक्तित्व में महापुरुष के सभी लक्षणों को बताते हुए विशेष रूप से उन्होंने सत्यसंधी सत्यपराक्रमी और सत्य में द्वितीय धर्मराज जैसे गुणों को जोर देकर रेखांकित किया है।[9] राम के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना 'वनवास' का हेतु भी नारद जी ने सत्य के सन्दर्भ में उत्पन्न हुए धर्मसंकट को ही बताया है।[10] वस्तुतः सम्पूर्ण रामायण में राम के रामत्व की प्रतिष्ठा और परीक्षा उनके सत्यसंधी और सत्यप्रतिश्रव होने में ही हुई है। राम के व्यक्तित्व के अन्य गुण सत्य को सौष्ठव प्रदान करने वाले अनुषंगी गुण ही कहे जा सकते हैं। वास्तव में सत्याधृति ही राम के रामत्व का परिभाषक गुण है। कुछ एक प्रसंगों में अन्यों के मुख से राम को 'धर्मज्ञ' भी कहा गया है। राम ने कैकेयी को सम्बोधित करते हुए स्वयं को ऋषियों के समान विमल धर्म में स्थित भी कहा है।[11] ऋषि परम्परा के विमल धर्म का तात्पर्य सत्यनिष्ठ धर्मबोध से है (यो वै स धर्मः तत्सत्यं वैतत्- वृह.उप.)। अतः ऐसे प्रसंगों में राम की धर्मज्ञता का तात्पर्य सत्यनिष्ठा की अचलता ही है।

वाल्मीकि ने राम के महाकाव्यीय जीवन को जिस तरह से प्रस्तुत किया है, उसमें राम का हृदय एक अष्टदल कमल के समान सत्यरूपी सूर्य के आलोक में उत्तरोत्तर प्रस्फुटित होता गया है। मनुष्य की जैव-वासना और प्राकृतिक अग्रहों से घिरी हुई चेतना के धरातल पर सत्यनिष्ठ होना सहज नहीं होता। इसके लिए सत्य के प्रति निष्ठा का दृढ़ होना आवश्यक है। राम के जीवन में यह दृढ़ता उत्तरोत्तर दृढ़तर होती गई है। जीवन के दारुण और करुण परिस्थितियों में भी राम की सत्यनिष्ठा टस से मस नहीं हुई है। वाल्मीकि रामायण में सत्य का तात्पर्य लोकप्रतिष्ठित सत्य से है और लोकप्रतिष्ठित सत्य के प्रति अचल निष्ठा में ही राम के रामत्व को प्रतिष्ठित किया गया है। उदाहरण के लिए दिए हुए वरदान और वचन को निभाना भारतीय संस्कृति में लोकप्रतिष्ठ सत्य का मानदण्ड रहा है। रघुकुल में तो ऐसे लोकप्रतिष्ठ सत्य के प्रति अप्रतिहत प्रतिबद्धता का समृद्ध इतिहास देखने को मिलता है। राजा सगर से लेकर हरिश्चन्द्र पर्यन्त यह रघुकुल की परम्परा रही है – प्राण जाई वरू वचन न जाई। कैकेयी ने रघुकुल की इसी सत्यनिष्ठा में सेंध लगाकर दशरथ के समक्ष एक धर्मसंकट को उत्पन्न किया है। वाल्मीकि ने इस धर्मसंकट को जिस तरह उपस्थापित किया है, उसमें 'सत्य' को धर्मपाश में जितना सम्भव था उतने मजबूती से बाँधा गया है। परन्तु इस प्रसंग में सत्य को अन्ततः कितना भी निष्ठुर क्यों न दिखाया गया हो, उसकी अचलता को अक्षुण्ण ही रखा गया है।

II

रामायण के महाकाव्यीय कथानक की गहन शुरुआत वास्तव में कैकेयी के छल से होती है। कैकेयी सत्य के नाम पर चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन, दिशा, जगत्, पृथ्वी, गन्धर्व, राक्षस, निशाचर, ग्रहदेवता और समस्त देवों को साक्षी बनाकर सत्य के

साथ छल करती है।[12] विचित्र बात यह है कि उस छल की सिद्धि के लिए यहाँ सत्य को ही हेतु बनाया गया है। कैकेयी दशरथ को अपने दिए गए वचन का प्रतिस्मरण कराती है और उसके प्रति दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए कहती है कि धर्मज्ञ पुरुष सत्य को ही श्रेष्ठ धर्म बतलाते हैं।[13] ऐसा ही प्रतिस्मरण कैकयी राम को भी कराती है कि राम! सत्य ही धर्म की जड़ है[14] और यदि तुम अपने पिता को सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहते हो तथा अपने को भी सत्यवादी सिद्ध करना चाहते हो तो तुम्हें चौदह वर्षों के लिए वनवास ग्रहण करना चाहिए।[15] इस तरह सत्य को महान् बतलाकर और उसकी रक्षा में राम को उकसा कर कैकेयी अपना छल सिद्ध करती है। अब इस छल के दुरूह चक्रव्यूह का भेदन उसे अधर्म मानकर धर्मबुद्धि अर्थात् औचित्य बुद्धि से ही किया जा सकता है। परन्तु राम सत्य के पक्ष में उस अधर्म को, अनौचित्य को सिद्ध होने देते हैं और इसे वे विमल धर्म में स्थित होना कहते हैं।[16]

राम के इस अनुमोदन के विरुद्ध आगे के प्रसंगों में एक-एक करके राम को कौशल्या माता, भाई लक्ष्मण और भरत तथा अन्त में जाबालि और कुलगुरु वशिष्ट के प्रतिवादों का सामना करना पड़ा है। इन प्रतिवादों के प्रश्न बहुत जटिल हैं और राम के प्रत्युत्तर भी अलग-अलग प्रसंगों में एक बहुत बड़े विमर्श (डिस्कोर्स) को खड़ा करते हैं। यह विमर्श (डिस्कोर्स) अपनी बनावट और अन्तर्वस्तु में सत्य बनाम धर्म को ही लेकर है। अन्ततः राम पौरुष, क्षात्र धर्म, दैवविधान, कुलधर्म और यहाँ तक कि लोकायत हेतुवाद का निराकरण करते हुए सत्य की प्रतिष्ठा करते हैं और उसी के अनुपालन में औचित्य देखते हैं। इन प्रसंगों में राम मानो निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि - सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्म सदाश्रितः। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।।[17] राम के लिए सत्य ही श्रेष्ठ धर्म है- धर्मं सत्यं पश्याम्हं ध्रुवम्।[18] उनकी अचल प्रतिज्ञा है कि मैं सत्य का आश्रय लेकर सत्य का पालन करूंगा। सत्य साधन से सत्य साध्य की प्रतिष्ठा ही राम की सत्यनिष्ठा का मानदण्ड है – सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम्।[19] यदि चन्द्रमा से उसकी शीतल प्रभा अलग हो जाए, हिमालय हिम का परित्याग कर दे और समुद्र अपनी सीमा लाँघकर आगे बढ़ जाए, तब भी राम सत्य का उल्लंघन नहीं कर सकते। यहाँ सत्य का प्रसंग 'पितृ सत्य' है।

लक्ष्मीश्चचन्द्रादपेयाद् वा हिमवान वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो बेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः।।[20]

इस श्लोक के माध्यम से वाल्मीकि ने भयंकर विप्लवकारी परिस्थितियों के घटित होने की सम्भावना को संकेतित कर भी राम की सत्यनिष्ठा को सर्वोपरि बताया है। इससे स्पष्ट होता है कि राम ने सत्य को धर्म के पहले स्थान दिया है। वह धर्म जो सत्याधारित अथवा सत्य में मूलित नहीं, उसे वे धर्म ही नहीं मानते – नासौ धर्मो

यत्र न सत्यमस्ति।[21] यहाँ तक कि जाबालि का प्रत्युत्तर देते हुए वे राजधर्म को भी औचित्यमूलक धर्म के रूप में न देखकर सनातन सत्य के रूप में देखते हैं—सत्यमेवानृशंसं च राजवृतं सनातनम्। तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोक प्रतिष्ठितः।।[22]

आपततः यहाँ एक प्रश्न उठता है कि वाल्मीकि ने राम के महाकाव्यीय जीवन को जिस तरह से प्रस्तुत किया है, उससे हम लोगों को उन्होंने सत्य और धर्म के बीच चयन का एक द्वन्द्व उपस्थापित कर एक आदर्शगत विरोध की स्थिति में तो लाकर नहीं खड़ा कर दिया है? देखा जाए तो वाल्मीकि रामायण में यह द्वन्द्व पराकाष्ठा तक जाता है और पराकाष्ठा पर्यन्त सत्य की ही प्रतिष्ठा होती है। राम के लिए सत्य ही धर्म है। सत्य के बिना धर्म नहीं होता। सत्य की रक्षा ही धर्मरक्षा है। सत्य से विच्युति ही धर्मच्युति है। राजा दशरथ ने कैकयी के कपट, अधर्म और अन्याय को जानते हुए भी अपने औचित्य बुद्धि के विरुद्ध जाकर सत्य की रक्षा में राम को वनवास दिया जाना स्वीकार किया। राम भी अपनी औचित्य बुद्धि से उस निर्णय का मन ही मन समर्थन करते हुए प्रतीत नहीं होते। यह दुःख उन्होंने एकान्त में लक्ष्मण के समक्ष व्यक्त भी किया है। परन्तु सत्यभ्रष्ट होने के भय से सत्य की रक्षा में उन्होंने वनवास को स्वीकार किया। अपने अप्रतिम पौरुष का शंखनाद करते हुए भी उन्होंने उसे औचित्यमूलक धर्म के पक्ष में खड़ा नहीं किया, अपितु अपने पौरुष को सत्य के पक्ष में समर्पित किया है। राम का यह वचन पौरुष और सत्य के अन्तर्द्वन्द्व को बहुत ही मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है।

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्।
अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ।।[23]

यहाँ 'अधर्मभयभीति' का तात्पर्य सत्य के प्रतिकूल आचरण अथवा ऐसा आचरण जिससे सत्य का व्यभिचार उत्पन्न होता हो, क्योंकि सारी वस्तुओं के मूल में यही सत्य है—धर्मः सत्यपरोलोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।[24] अतः राम के लिए सत्य ही सर्वोपरि है और सत्य को जान लेने के पश्चात् ही उसकी अनुरूपता में धर्म का विचार श्रेयस्कर है।

सत्य का ऐसा ही स्थिर और अचल मानदण्ड को लेकर वाल्मीकि ने राम के जीवन को गढ़ा है और समाज एवं संस्कृति को लोक प्रतिष्ठित सत्य के कठोर अनुशासन में बाँधना चाहा है। सत्य यदि यह दावा भी करे कि उसके अनुपालन में अमंगल और अकल्याण उत्पन्न हो सकता है तो राम का आदर्श उस निष्ठुर सत्य के पालन का ही है। शोकार्त्त पिता का आर्त्तनाद, कौशल्या का फटता हुआ मातृहृदय, लक्ष्मण का पितृवध पर्यन्त आक्रोश और भरत का आमरण अनशन भी राम की सत्य के प्रति निष्ठा और दृढ़ता को डगमगा नहीं सके। द्रष्टव्य है कि सत्यपरायण राम

(रामो नित्यं सत्यपरायणः)[25] के जीवन में बालिबध, सीता का त्याग, शम्बूक वध एवं लक्ष्मण का परित्याग जैसी घटनाएँ एक के बाद एक घटती गईं। ये सभी घटनाएँ ऐसी हैं कि इनके माध्यम से राम की सत्यनिष्ठा गहन, गम्भीर और विकट परीक्षाओं के दौर से गुजरी है। कभी-कभी तो राम का हृदय व्यथित होकर आर्त्तनाद कर उठता है, फिर भी राम की सत्यपरायणता कभी स्खलित नहीं हुई है। इसीलिए भवभूति ने राम के मुख से ही कहलवाया है कि सत्यरक्षा में मैं वज्र के समान कठोर हूँ—एश संजोहस्मि वज्रमयः।[26] राम का यह कथन क्या वज्र की कठोरता से कम है? मुझे सत्य (लोक प्रतिष्ठित सत्य) के नाम पर स्नेह, ममता, सुख और यहाँ तक कि सीता को भी त्यागना पड़े तो भी मेरा हृदय व्यथित नहीं होगा।[27]

सत्यसंधी राम की अन्तिम परीक्षा तो तब होती है जब महाकाल (धर्मराज) छदम वेष में ऋषि का रूप धारण कर राम के समक्ष उपस्थित हो गए और सबकी आड़ में उनसे कुछ कहने का प्रस्ताव किया। शर्त यह रखी गई कि वहाँ दोनों के अतिरिक्त कोई नहीं रहेगा। साथ ही साथ बीच में यदि कोई आ जाता है या दोनों की बातें सुन लेता है तो राम उसका वध करेंगे। लक्ष्मण जैसे पहरेदार के रहते राम के लिए यह कोई बड़ी शर्त नहीं थी। लक्ष्मण द्वार पर पहरा के लिए खड़े हो गए और दोनों की वार्ता होने लगी। इतने में दुर्वासा ऋषि आ पहुँचे और लक्ष्मण से कहा कि मुझे तत्काल राम से मिलना है। यदि यह कार्य अविलम्ब नहीं हुआ तो मैं अभिशाप दूँगा और राज्य सहित वंशबुनियाद के साथ भस्म हो जाओगे। अब लक्ष्मण दुविधा में पड़ गए। परन्तु देखने लायक बात यहाँ यह है कि लक्ष्मण ने इस दुविधा पर राम की तरह सत्याश्रित होकर विचार नहीं किया बल्कि औचित्य की दृष्टि से, सत्य के ऊपर औचित्यमूलक धर्मबोध को रखकर विचार किया कि सबके विनाश से अच्छा अपना ही वध करवा लेना है। इस तरह लक्ष्मण बीच में जाकर ही राम को दुर्वासा के आने की सूचना दे दी। राम ये देखकर राहुग्रस्त चन्द्रमा के समान मलिन ही नहीं, हतप्रभ भी हो गए।

दुःखेन च सुसंतप्तः स्मृत्वा तद्घोर दर्शनम्।
अवांमुखो दीनमना व्याहर्तुं न शशाक ह।।[28]

देखा जाए तो यहाँ स्वयं महाकाल ही राम के अन्तिम जीवन में सत्य की अन्तिम परीक्षा लेने के लिए उपस्थित हुए हैं। अब राम के पास दो ही विकल्प थे—भातृहन्ता या मिथ्यावादी। लक्ष्मण ने तो राम की दुविधा और उनके सत्यप्रतिज्ञ होने की हामी भरते हुए कह दिया कि यदि मैं आपका स्नेहभाजक हूँ तो सत्य की रक्षा के लिए आप निःसंकोच मेरा वध कीजिए (जहि मां निर्विशंकस्त्वं धर्मं वर्धय राघव)।[29] बहुत मंत्रणा के पश्चात् गुरु वशिष्ट आते हैं और कहते हैं कि ऐसा होगा, यह मुझे ज्ञात था। राम! तुम सत्य की रक्षा करो। साधुगणों के लिए त्याग करना अथवा वध करना समान होता है (त्यागो वधो वा विहितः साधुनां तूभयं समम्)। तब राम

लक्ष्मण से कहते है कि मैं धर्म का विपर्यय नहीं होने दूँगा। लक्ष्मण! मैं तुम्हें त्यागता हूँ—विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद् धर्मविपर्ययः।[30] इस प्रसंग में धर्म विपर्यय पद का प्रयोग बड़ा ही अन्तर्भेदी है। धर्म विपर्यय का तात्पर्य ऐसा आचरण जो यथासत्य न होकर सत्यन्यथा हो, अर्थात् सत्यानुसारी न हो। वस्तुतः वाल्मीकि द्वारा रामायण में इस प्रसंग की महाकाव्यीय प्रस्तुति ही राम को सत्य के सन्दर्भ में द्वितीय धर्मराज (सत्ये धर्म इवापरः) और सत्य को रामायण का 'राजधर्म' बना देता है। इस तरह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण एक महाकाव्य की भूमिका में जिन सामाजिक-सांस्कृतिक, लौकिक-पारलौकिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है, उसमें 'सत्य' ही अधिष्ठानभूत है और शेष सब के सब सत्य के अनुशयी हैं।

II

वाल्मीकि रामायण का यह 'सत्य प्रस्थान' जिस तरह से सत्यप्रतिश्रव, सत्यसंधी और सत्यव्रती राम के चरित में प्रतिष्ठित किया गया है, उसे महाभारत के तुलनात्मक सन्दर्भ में और अधिक व्यावर्तक रूप में समझा जा सकता है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण महाभारत रामायण का एक 'काउण्टर डिस्कोर्स' है। भीष्म से लेकर युधिष्ठिर तक महाभारत के सभी पात्र रामायणीय सत्यनिष्ठा का अपने-अपने पक्ष में और अपने-अपने तरीके से हामी भरते हुए प्रतीत होते हैं। अकेले कृष्ण समय-समय पर सबकी सत्यनिष्ठा का आदर करते हुए उनकी आलोचना भी करते हैं। भीष्म ने सत्यवती के पिता निषादराज से की गई अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हुए कहा है कि ''त्रिलोकी का राज्य, ब्रह्मा का पद और इन दोनों से अधिक मोक्ष का भी त्याग कर सकता हूँ; परन्तु सत्य का त्याग नहीं कर सकता। यहाँ तक कि पाँचों महाभूत अपने-अपने अणुओं का त्याग कर दें, चन्द्रमा अपनी शीतलता को छोड़ दे और स्वयं धर्मराज भले अपना धर्म छोड़ दें, परन्तु मैं अपनी सत्य प्रतिज्ञा को छोड़ने का विचार मन में नहीं ला सकता।'' महाभारत के अधिकांश पात्र इसी तरह की प्रतिज्ञाओं से बँधे हैं और आमरण उसकी ही रक्षा करते हैं। युधिष्ठिर भी राम की तरह सत्य-प्रतिज्ञ और सत्यवादी होने के कारण ही धर्मराज कहे गए हैं। साक्षात् धर्म ही यक्ष बनकर जब युधिष्ठर की परीक्षा ले रहे थे तो धर्म ने प्रसन्न होकर और वरदान माँगने के लिए युधिष्ठिर से कहा तो उन्होंने अन्तिम वरदान यही माँगा कि मेरा मन दान, तप और सत्य में ही सदैव प्रतिष्ठित रहे—दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत्।[31] एक बार मार्कण्डेय ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा था कि हे राजन् आपके इस वनवासी जीवन को देखकर मुझे सत्यव्रती राम का बलात् स्मरण आता है। तब वे युधिष्ठिर के आग्रह पर राम की बातें सुनाते हैं और युधिष्ठिर को इससे सांत्वना मिलती है। महाभारत में युधिष्ठिर से सम्बन्धित ऐसे कई प्रसंगों का उल्लेख किया जा सकता है और उन सबसे उनका सत्यव्रती होना ही सिद्ध

होता है। एक बार अज्ञातवास के दौरान भीमसेन ने द्रौपदी और भाइयों के कष्टों की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि क्यों न जूए में हारे हुए राज्य को बलपूर्वक वापस ले लिया जाए! युधिष्ठिर का उत्तर था—हे भीमसेन! राज्य, पुत्र, कीर्ति और धन इत्यादि मिलकर भी सत्य के सोलहवें हिस्से की बराबरी नहीं कर सकते।[32] महाभारत में तो यहाँ तक कहा गया है कि सत्य का महाफल सहस्र अश्वमेध यज्ञों के महाफल पर भी भारी पड़ता है।[33]

परन्तु महाभारत के इन निर्णायक पात्रों की राम की तरह की सत्यनिष्ठा को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि वेद-व्यास ने सत्य की भित्ति पर अपने महाकाव्य को खड़ा किया है। वस्तुतः यह सभी महाभारत के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हैं। उत्तरपक्ष तो अकेले श्रीकृष्ण प्रस्तुत करते हैं। द्रष्टव्य है कि सत्य का ज्वलंत प्रश्न जितना निष्ठुर होकर राम के सामने उपस्थित हुआ था, उतना ही संकटग्रस्त होकर महाभारत के अनेकों प्रसंगों में उपस्थित हुआ है। उदाहरण के लिए अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई उनके गाण्डीव का असम्मान करेगा तो वे उसका वध करेंगे। एक दिन अकस्मात् वैसा ही हुआ। युधिष्ठिर ने युद्धभूमि में अपने को पराजित और घायल अवस्था में पाकर क्षोभ के मारे अर्जुन के गाण्डीव को धिक्कारा। तब अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा का प्रतिस्मरण कर तलवार लिए युधिष्ठिर को मारने के लिए खड़े हो गए। उसी समय वहाँ श्रीकृष्ण उपस्थित होते हैं—और अर्जुन से पूछते हैं—किमिदं पार्थ गृहीतः खड्ग इति? अर्जुन का उत्तर था—वधिश्यामि राजानम्! अर्जुन के सामने भी वैसा ही संकट है जैसा कि महाकाल द्वारा परीक्षा लेते समय राम के समक्ष उपस्थित हुआ था। या तो वे प्रतिज्ञा तोड़कर सत्यभ्रष्ट होते या ज्येष्ठभ्राता का वध करते। प्रस्तुत प्रसंग में अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा सत्य की रक्षा में ज्येष्ठभ्राता का वध करने उपस्थित होते हैं। श्रीकृष्ण के द्वारा यहाँ अर्जुन की जैसी कटु आलोचना की गई है उससे महाभारत का उत्तरपक्ष, सिद्धान्त पक्ष उद्घाटित होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! तुम मूर्ख हो, नराधम हो। तुम धर्म विभाग को नहीं जानते। जो धर्म विभाग को जानता है वह ऐसा निर्णय कदापि नहीं ले सकता। तब अर्जुन को सरलता से धर्म विभाग[34] समझाने के लिए उन्होंने कौशिक मुनि की कथा सुनाई। कथा इस प्रकार है —एक नदी के किनारे जंगल में कौशिक मुनि रहते थे। वे हमेशा सत्य बोलते थे। सत्यवादी के रूप में ही उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। एक दिन डाकुओं के गिरोह ने कुछ लोगों का पीछा किया। वे जान बचाने के लिए जंगल में छिप गए। डाकुओं ने आकर कौशिक मुनि से पूछा कि सच-सच बताइए कि वे लोग किधर गए हैं। सत्यवादी कौशिक मुनि ने बता दिया कि वे सभी आश्रम के आस-पास ही जंगल में छिपे हैं। तब डाकुओं ने उन सबको पकड़कर सबकुछ छिन लिया और सबको मार डाला। श्रीकृष्ण यहाँ बताना चाहते हैं कि कौशिक मुनि यद्यपि सत्यनिष्ठ हैं, फिर भी वे धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों को नहीं जानते। यदि वे जानते तो कभी वे वैसा नहीं करते जैसा कि उन्होंने

किया। सत्य का विचार तात्कालिक दृष्टि से नहीं करना चाहिए। सत्य कितना भी बड़ा और महान् से महान् क्यों न हो, वह वास्तव में अनेक चीजों से मिलकर बनता है। सत्य का अनेक चीजों से मिलकर बनना ही उसे सापेक्षिक बना देता है। उन सब प्रासंगिक चीजों को विच्छिन्न कर देने पर सत्य वास्तव में सत्य नहीं रह जाता। वह मतवाद का अंधविश्वास या फिर बुद्धि का फंदा बन जाता है। अतः क्या सत्य है और क्या असत्य है, यह पहचानना अत्यंत कठिन है—तत्त्वे नैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम्।[35]

महाभारत में श्रीकृष्ण का उत्तरपक्ष यह है कि सत्य के लिए सत्य बड़ा नहीं होता और मिथ्या के लिए भी मिथ्या हेय नहीं होता। चाहे सत्य हो अथवा मिथ्या, उसका विचार 'धर्म' से होता है। 'धर्म' ही सत्य का मानदण्ड है—यतो धर्मस्ततः सत्यम्।[36] राम भी पितृसत्य की रक्षा में वनवासी हुए। युधिष्ठिर ने भी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए अज्ञातवास ग्रहण किया। दोनों के लिए छल और सत्य का प्रसंग तथा उसकी व्यंजना एक जैसी ही रही है। इसीलिए अज्ञातवास के दौरान मार्कण्डेय ऋषि जब युधिष्ठिर को सत्यनिष्ठ राम की कथा सुनाते हैं तो उन्हें शांति और सान्त्वना मिलती है। परन्तु श्रीकृष्ण सत्य के इस प्रकार के आदर्शीकरण को नहीं मानते हैं। उन्होंने काम्यक वन में पाण्डवों से जाकर कहा था कि यदि मैं द्युत सभा में होता तो द्युतसत्य के नाम पर इतना बड़ा छल, अधर्म नहीं होने देता। पहले सभी को समझाने की कोशिश करता। यदि वे नहीं समझते तो बलपूर्वक उनका निग्रह करता। इस पर भी सभासद यदि बाधा उत्पन्न करते तो उनका वध कर देता।[37] इस तरह यहाँ देखा जा सकता है कि वाल्मीकि के राम और महाभारत के कृष्ण की आदर्श-चेतना भिन्न-भिन्न है। राम के लिए लोकसत्य सर्वोपरि है, चाहे उसका अनुपालन अनिष्ट ही क्यों न उत्पन्न करे। परन्तु कृष्ण के लिए यदि लोक प्रतिष्ठित सत्य के नाम पर अधर्म, अकल्याण और अमंगल उत्पन्न होता है तो वैसे सत्य को नहीं मानना चाहिए। श्रीकृष्ण तो यहाँ तक कह जाते हैं कि सत्य अकसर मिथ्या हो जाता है और मिथ्या सत्य बन जाता है—तत्रनृतं भवेत् सत्यं, सत्यं चाप्यनृतं भवेत्।[38] अतः यदि सत्य बोलने से अमंगल हो रहा हो तो सत्य के सत्कार में चुप रहना चाहिए। चुप रहना सम्भव न हो तो मिथ्या बोलना चाहिए। असत्य को ही वहाँ सत्य समझना चाहिए—श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम्।[39]

IV

इस तरह पूरे महाभारत में श्रीकृष्ण ने सत्य की अनुरूपता में धर्म को प्रतिष्ठित न करके धर्म की अनुरूपता में सत्य को प्रतिष्ठित किया है। महाभारत के अधिकांश पात्र अपने-अपने सन्दर्भों में लोकसत्य से बँधे हैं और मृत्युपर्यन्त उसका पालन करने हैं। परन्तु उन्हीं में से कुछ के मुख से दर्जनों बार श्रीकृष्ण का उत्तरपक्ष निष्कर्ष रूप में

उच्चरित होता है—यतोधर्मस्ततो जयः। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि श्रीकृष्ण ने सत्य की अवहेलना की है। उन्होंने स्वयं कहा है—सत्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं — न सत्याद् विद्यते परम।[40] परन्तु यह सत्य क्या है? श्रीकृष्ण का उत्तर है—सत्य धर्म की एक मात्रा अथवा परिमाण है। इसीलिए धर्म व्यापक है और सत्य उसका व्याप्य है—यतो धर्मस्ततः सत्यम्। इसके विपरीत राम के लिए धर्म ही सत्य की एक मात्रा है। अतः सत्य व्यापक है और धर्म उसका व्याप्य — सत्ये धर्मः सदाश्रितः। महाभारत में 'धर्म' को सत्यपाश में बाँधकर उसे निखारा गया है और रामायण में 'सत्य' को धर्मपाश में बींध कर उसे तराशा गया है। परन्तु दोनों महाकाव्यों में सत्यधर्म (रामायण) और धर्मसत्य (महाभारत) सम्पूर्ण कथानक और पात्रों में इस तरह प्रयुक्त होकर आकार ग्रहण करता है कि मध्यवर्ती स्थिति में उसके सम्पूर्ण स्वरूप को पकड़ पाना सम्भव नहीं और सभी पात्रों तथा घटनाओं का उसके निरपेक्ष स्वरूप में समझ पाना और भी दुर्विज्ञेय है।

रामायण और महाभारत दोनों ही महाकाव्यों में सत्यधर्म और धर्मसत्य को अन्ततः दुर्विज्ञेय ही बताया गया है। राम का कथन है कि सत्यधर्म बड़ा ही दुर्विज्ञेय है। उसे जानना बड़ा ही कठिन होता है। सर्वभूत के हृदय में स्थित केवल अन्तरात्मा ही उसे जानती है।[41] युधिष्ठिर ने भी यही कहा है कि धर्म घोड़े की क्षुर की धार से भी अधिक सूक्ष्म और पर्वत से भी अधिक गरीयान है।[42] इतना ही नहीं, साँप के पदचिह्न के समान धर्म का गतिपथ अदृश्य होता है—अहेरिव हि धर्मस्य पदम्।[43] हरिवंश पुराण में भी धर्म की गति को गहरे पानी में मछली की गति के समान अदृश्य कहा गया है।[44] उपनिषदों का भी यही उद्घोष है कि सत्य का मुख स्वर्णमय आवरण से ढका होता है—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी-

1. वाल्मीकि रामायण, आदि कांड 4/9, पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्। जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तंत्रीलयसमन्वितम्।।
2. महाभारत, आदिपर्व 2/390
3. रवीन्द्र रचनावली, पश्चिम बंग सरकार, खण्ड-13, पृ. 662
4. The Foundation of Indian Culture, 1959, pp. 331 – The Ramayana embodied for the Indian imagination its highest and tenderest human ideals of character.
5. रामामण, उत्तरकांड, गायत्रयाश्च स्वरूपं तद् रामायणमुत्तमम्।। 111/18
6. वाल्मीकि रामायण, 109/12, अध्योध्या कांड, उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः। धर्मः सत्यपरोलोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।। पूरे रामायण में सत्य की परात्परता को रेखांकित करने वाले इस प्रकार के वाक्य विभिन्न प्रसंगों में भरे पड़े हैं।

7. महाभारत के विभिन्न पर्वों में कम से कम बारह प्रसंगों में भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा 'यतो धर्मस्ततो जयः' को दुहराया गया है।

7.1. उद्योग पर्व, 143/36, कर्ण अपने स्वप्न का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण से कहते हैं— क्षपयिष्यसि नः सर्वान् स सुव्यक्तं महारणे। विदितं मे हृषीकेश यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.2. वही, 148/16, द्रोणाचार्य दुर्योधन को उपदेश देते हुए कहते हैं—अश्वत्थामा यथा मह्यं तथा श्वेतहयो मम। बहुना किं प्रलापेन यतोधर्मस्ततो जयः।।

7.3. भीष्म पर्व, 2/14, महर्षि व्यास धृतराष्ट्र से कहते हैं—दिष्टमेतन्नरव्याघ्र नाभिशोचितुमर्हसि। न चैवं शक्यं संयुन्तुं यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.4. भीष्म पर्व, 21/11, अर्जुन देवेन्द्र को ब्रह्माजी का उपदेष याद दिलाते हुए युधिष्ठिर से निवेदन करते हुए कहते हैं—त्यक्त्वा धर्मं च लोभं च मोहं चौद्यममास्थिताः। युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.5. वही, 65/18, संजय पाण्डवों के विजय का कारण बताते हुए धृतराष्ट्र से कहते हैं— न ते युद्धन्निवर्तन्ते धर्मोपेताः महाबलाः। श्रिया परमया युक्ता यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.6. वही, 66/35, भीष्म पाण्डवों के विषय में बताते हुए दुर्योधन से कहते हैं— राजन् सर्वामयो ह्योष तमोराग विवर्जितः। यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.7. द्रोण पर्व, 11/183-66-67, घटोत्कच वध के उपरांत युधिष्ठिर को व्यास जी कहते हैं—अनृशंस्यं तपो दानं क्षमां सत्यं च पाण्डवः। सेवेथा परमप्रीतो यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.8. शल्य पर्व, 63/62, श्रीकृष्ण की उपस्थिति में धृतराष्ट ने गांधारी को याद दिलाते हुए कि तूने दुर्योधन से कहा था कि — दुर्योधनस्त्वया चोक्तो जयार्थी पुरुषं वचः। शृणु मूढ़ वचो मह्यं यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.9. स्त्री पर्व, 14/8-9, पाण्डवों को शाप देने के लिए उद्धत गांधारी से व्यास का प्रबोधन—सा तथा याच्यमाना त्वं काले काले जयैषिणा। उक्तवत्यसि गांधारी यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.10. स्त्री पर्व, 14/12, व्यास का उद्‌बोधन — क्षमाशीला पुरा भूत्वा साद्य न क्षेमसे कथम्। अधर्मं जहि धर्मज्ञे यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.11. स्त्री पर्व, 17/7, दुर्योधन तथा पुत्रवधु को देखते हुए श्रीकृष्ण के समक्ष गांधारी का कथन — इत्युक्ते जानाति सर्वमहं स्वव्यसनागमम्। अब्रवं पुरुषव्याघ्र यतो धर्मस्ततो जयः।।

7.12. स्वर्गारोहण पर्व, 167/41, भीष्म ने श्रीकृष्ण से अपनी भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहा है— उक्तवानस्मि दुर्बुद्धिं मंदं दुर्योधनं तदा।। 'यतः कृष्णस्ततो धर्मो' यतो धर्मस्ततो जय।।

8. गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में राम के व्यक्तित्व में सत्य और धर्म दोनों का समन्वय किया है। राम के ईश्वरीय पक्ष में महाभारत के धर्म और मनुज पक्ष में रामायण के सत्य का समाहार गोस्वामी जी ने सुन्दर तरीके से किया है। इसीलिए

तुलसी के राम 'मर्यादित पुरुषोत्तम' हैं। यही वाल्मीकि से भिन्न तुलसी का सत्य और धर्म का 'समन्वय प्रस्थान' है। रामचरितमानस के प्रणयन का यही हेतु और यही औचित्य है।

9. वाल्मीकि रामायण, 1/12, 18, 19, 35, 39 और 87, नारद जी जब राम को 'सत्येधर्म इवापरः' कहते हुए जब उन्हें द्वितीय धर्मराज कहते हैं तो स्पष्ट है कि धर्मराज विशेषण उसके लिए प्रयुक्त हुआ है जिसके लिए सत्य ही परम धर्म है। वह जो इस धर्म से कभी स्खलित नहीं होता। भारतीय वाङ्मय में ऐसे धर्मराज तीन हैं। प्रथम यमराज को धर्मराज कहा गया है (यमाय धर्मराजाय), दूसरे राम को और तीसरे युधिष्ठिर को धर्मराज कहा गया है।
10. वही, 1/23, स सत्यवचनाद् राजा धर्मपाशेन संयतः। विवासयामास सुतं रामं दशरथं प्रियम्।।
11. वही, अयोध्याकांड, 19/20, नाहमर्थ परोदेवि लोकमावस्तुमुत्सहे। विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्।।
12. वही, अयोध्याकांड, 11/14, 15, 16 - सत्यसंधो महातेजा धर्मज्ञः सत्यवाक्शुचिः। वरं मम ददात्येष सर्वे शृण्वन्तु दैवता।।
13. वही, 14/3,7, आहुः सत्यं हि परमधर्मं धर्मविदोजनाः, सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्म प्रतिष्ठितः।
14. वही, 18/24, धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि। तत् सत्यं न त्यजेद् राजा कुपितस्वत्कृते यथा।।
15. वही, 18/34, 35, यदि सत्य प्रतिज्ञं च पितरं कर्तुमिच्छसि। आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु।। संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम। त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पंच च।।
16. वही, अयोध्याकांड, 19/20
17. वही, अयोध्याकांड, 109/13
18. वही, अयोध्याकांड, 109/19
19. वही, अयोध्याकांड, 109/16
20. वही, अयोध्याकांड, 112/18
21. वही, उत्तरकांड, 59 (प्रक्षिप्त सर्ग-3)/33
22. वही, अयोध्याकांड, 109/10
23. वही, अयोध्याकांड, 53/25, 26
24. वही, अयोध्याकांड, 109/12 – उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः। धर्मः सत्यपरोलोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।।
25. वही, अयोध्याकांड, 74/10
26. उत्तररामचरितम्, 7/3

27. स्नेहं दया च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकानां मुचतो नास्ति मे व्यथा।। (उत्तररामचरितम् , 2/7)
28. वही, 105/17
29. रामायण, उत्तरकांड, 106/3,4
30. वही, 106/13 विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद धर्मविपर्ययः। त्यागो वधो वा विहितः साधुनां तूभयं समम्।। —''सहजहिं मार कबीर की चित से दिया उतार'' कबीर के नाम से प्रसिद्ध इस पंक्ति में रामायण के इसी वचन की प्रतिध्वनि है।
32. वही, वनपर्व, 34/22, मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्या वृणे धर्ममृताज्जीविताच्च। राज्यं च पुत्राश्च यशोधनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति।।
33. वही, शान्तिपर्व, 162/26, अश्वमेध सहस्त्रं च सत्यं तुलया धृतम। अश्वमेधसहस्त्रादि सत्यमेव विशिष्यते।।
34. धर्मविभाग की महाभारतीय अवधारणा को समझने के लिए जिज्ञासु मुकुन्द लाठ की पुस्तक 'धर्मसंकट' का 'धर्मविभाग' नामक अध्याय देख सकते हैं।
35. महाभारत, कर्णपर्व, 69/31, सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम। तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम्।।
36. वही, शान्तिपर्व, 199/70
37. वही, वनपर्व, 13/100-113
38. वही, कर्णपर्व, 69/34
39. वही, कर्णपर्व, 69/60
40. वही, शान्तिपर्व, 69/31
41. रामायण, कृष्किन्धाकांड, 18/15, सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवंगम। हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम्।।
42. महाभारत, शान्ति पर्व, 260/12, वेद्मि चैवं वा विद्म शक्यं वा वेदितुं न वा। अणीयान् क्षुरधाराया गरीयानति पर्वतात्।।
43. वही, 132/20
44. हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व, 23/13, धर्मस्य गतिरण्मेशा मत्स्यस्य।

प्रकृति के कैनवास पर निराला के शब्द चित्र

अन्नपूर्णा शुक्ला*

प्राकृतिक रंगीनियत से मनुष्य का रिश्ता अटूट है। प्रकृति ही मनुष्य का आधारबिन्दु है। मनुष्य के पास जो कुछ भी है, वह प्रकृति का ही है। उसकी सौन्दर्य चेतना का मूल स्रोत प्रकृति की विविधता और विराटता ही है। प्रकृति ही उसे जिज्ञासा देती है और प्रकृति ही उसे शान्त करती है। इसीलिए सौन्दर्य चेत्ता मानव प्रकृति के प्रति बहुत संवेदनशील होता है। विशेषकर कवि और कलाकारों की रचनाशक्ति के मूल में प्रकृति का बहुत कुछ योगदान होता है। छायावादी काव्य का आधार ही प्रकृति है। छायावादी कवियों ने अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को प्रकृति के माध्यम से ही अधिकांशतः व्यक्त किया है। इसीलिए छायावादी काव्य प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

निराला ने प्रकृति के कैनवास को मानवीय चेतना के रंगों से रँगकर नवीन बिम्बों से चित्रित किया है। निराला पौरुष के कवि थे। अतः इन्होंने प्रकृति के सुकुमार पक्ष के साथ साथ मानव सुलभ जिज्ञासाओं के ''शेड्स'' भी अपने चित्रण में दिए हैं। अतः उन्होंने कभी कभी प्रकृति के विराट रूप को ही एक कैनवास पर उतारने का प्रयास किया है और कभी-कभी दृश्य चित्रण के रूप में लघु काव्य संयोजन का भी चित्रण किया है। निराला दार्शनिक होने के साथ-साथ जगत के प्रति भी बहुत संवेदनशील थे। वे प्रकृति के छोटे से छोटे अंश के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते थे। कभी-कभी निराला एक सत्ता की दृष्टि से भी प्रकृति को देखते थे और अपने मनोनुकूल वे उसे सहचरी का रूप देते थे। निराला ने प्रकृति और पुरुष दोनों की सत्ता को माना और प्रकृति को पुराने संस्कारों में बाँधकर नहीं देखा; उन्होंने जिस दृश्य चित्रों की कल्पना की है वे बड़े अनूठे और रम्य हैं। इसीलिए उनके प्रिय विषय बादल, वर्षा, वन-उपवन, पुष्प, कलिका, ऋतुएँ और सरिता आदि को नए ढंग से व्यक्त हुए शब्द चित्रों से पूरी की पूरी दीर्घा ही सृजित करते चले गए हैं।

*असिस्टेंट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, मो. 9351636365

निराला अपनी इसी मौलिक दृष्टि के कारण प्रकृति के बारे में अपनी एक विशिष्ट दृष्टि लेकर ''जुही की कली'' के साथ प्रारम्भ में ही चर्चित हो गए थे। यों तो छायावादी काव्य में प्रकृति का मानवीकरण हुआ ही है परन्तु निराला जी ने प्रकृति का अधिकाधिक मानवीकरण करके प्रकृति और मानवीय भावनाओं के अन्तर को ही मिटा दिया है। यह बात इनकी ''जुही की कली'' में देखी जा सकती है। इस कविता में युवा कवि निराला ने जिस प्रकार ''जुही की कली'' को प्रकृति के कैनवास पर मधुर तूलिकाघातों से सुन्दर मुग्धा नायिका का रूप सृजित किया है। यह उनके असाधारण चित्रण कौशल का परिचायक है। इसमें कवि ने नए युग के मानवीय धरातल पर नवीन प्रेम और सौन्दर्य की कल्पना की है। इसमें मानवीय प्रेम और शृंगार का आरोप किया गया है। यह कविता सामयिक विद्रोह या बदलती हुई परिस्थितियों से अलग हटकर एक शुद्ध कलात्मक, ललित और नूतन चित्र है, जिसमें मात्र एक छोटी-सी कली और प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर मुग्धा नायिका की कोमल शृंगार भावनाएँ और प्रकृति की सुरम्य झाँकी का अद्‌भुत चित्रण हुआ है यह कलाकार की अभेद कलात्मक दृष्टि का ही प्रतिफलन है।

निराला जी ने प्रकृति को जहाँ दार्शनिक दृष्टि से देखा है, वहाँ उन्होंने रहस्य और जिज्ञासाओं के ''शेड्स'' देकर चित्रण विधा को विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। कवि जब प्रकृति के विराट स्वरूप से साक्षात्कार करता है और दार्शनिक धरातल पर उसके अनन्त सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासु होता है तो वह इस विराट कैनवास के चितेरे को जानने के लिए व्याकुल हो उठता है और उसी के सम्बोधन में कह उठता है—

रहा तेरा ध्यान,
जग का गया सब अज्ञान।
गगन धन-विटपी, सुमन नक्षत्र, गृह, नव-ज्ञान।
बीच में तू हँस रही ज्योत्स्ना, वसन-परिधान।
देखने को तुझे बढ़ता विश्व-पुलकित-प्राण।

निराला जी ने प्रकृति के विविध रूपों को अपनी ''पिक्चरस' (चित्र जैसा) दृष्टि से ही अधिकांशतः देखा है। इसलिए वे प्राकृतिक दृश्यों को एक विशेष ''फॉर्म'' में प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। किस प्रकार कलाकार की दृष्टि हमें दुनियाँ को एक खास रूप में देखने को बाध्य करती है, इसे कला के इतिहासकार गोम्ब्रिच ने एक अंग्रेजी शब्द ''पिक्चरस'' का उदाहरण देते हुए कहा है कि इस शब्द का शाब्दिक अर्थ ''चित्र जैसा'' है लेकिन वास्तविक अर्थ सुन्दर है। इसलिए कोई हमें सुन्दर तब लगता है जब हम दृश्य में चित्र जैसी सुन्दरता खोजते हैं।

निराला जी की इसी ''पिक्चरस'' दृष्टि ने प्रकृति के जिन सुन्दर रूपों की खोज की है और उनमें अपने भावों के परावर्तन व्यक्त किए हैं, वे हिन्दी काव्य में सर्वथा

नवीन और अनूठे हैं। निराला जी ने प्रकृति को आनन्ददायिनी और आह्लादिनी छटा के रूप में देखा हैं। साथ ही साथ वे प्रकृति को अपने समान संवेदनशील भी मानते हैं। निराला जी ने सम्भवतः अपनी ''पिक्चरस'' दृष्टि के बारे में कहा है कि ''प्रायः सभी कलाओं के लिए मूर्त्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्त्ति प्रेम ही कला की जन्मदात्री है, जो भावनापूर्ण सर्वांग सुन्दर मूर्त्ति खींचने में जितना कृतविद्य है, वह उतना बड़ा कलाकार है।'' इसी बात को अन्य भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने भी कहा है। निराला जी का प्रकृति चित्रण इसीलिए सजीव और भावनापूर्ण भी है। उनकी कविता ''संध्या श्यामा'', ''भावनापूर्ण सर्वांग सुन्दर मूर्त्ति'' के रूप में पृथ्वी पर उतरती है।

इसी प्रकार संध्या के निराला जी ने कई सजीव शब्द चित्र अंकित किए हैं। ''सन्ध्या-सुन्दरी'' में प्रमुख चित्र संध्या का है, जिसमें उन्होंने अपने एक-एक तूलिकाघात को सम्पूर्ण वातावरण के साथ फलक पर शब्द चित्र के रूप में मूर्त किया है। चूँकि सुन्दरी संध्या है अतः उसके व्यक्तित्व की गम्भीरता भी इसमें कौशल के साथ ध्वनित हुई है–

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर है दोनों उसके अधर–
किन्तु जरा गंभीर नहीं है उनमें हासविलास।

निराला जी ने प्रकृति को कहीं तो कल्पना के रंगों से सजाया-सँवारा है तो कहीं उसके यथार्थ के सुन्दर पक्ष को ही चित्रित किया है। उनके सूक्ष्म निरीक्षण में प्रकृति का जो हिस्सा आ जाता है उसके साथ तादात्म्य स्थापित करके वे उसका बड़ी कुशलता के साथ चित्रण कर देते हैं। चित्र में उनके बिम्ब अपनी गति, लय, रंग और ध्वनि के साथ उपस्थिति हो जाते हैं –

छाए आकाश में काले-काले बादल देखें,
झोंके खाते हवा में सरसी के कमल देखे
कानों में बातें बेला और जुही करती थीं,
नाचते मोर, घूमते हुए पीपल देखे।[1]

निराला जी को यदि प्रकृति में कोई अपना मन पसन्द ''मोटिफ'' मिल गया तो उन्होंने उसका यथार्थ रूप में ही चित्रण किया है। यथार्थ (रियलिस्टिक) चित्रण में जो बातें चित्रकला के लिए दुरुह होती है–जैसे दृश्य चित्र में वातावरण की अभिव्यक्ति। परन्तु निराला जी ने दृय चित्रण में वातावरण को उपयुक्त शब्द चयन से जितने सुन्दर

ढंग से चित्रित किया है, वह अपने में विशिष्ट है। विश्वविख्यात चितेरों ने अपने ''लैण्डस्केप्स'' में वातारण को जैसा पेन्ट किया है, निराला जी ने उससे कहीं अधिक अच्छा वातावरण शब्दों द्वारा चित्रित कर दिया है। उनकी कलम का एक-एक ''स्ट्रोक'' वातावरण का सृजन करता चला जाता है–

डूबा रवि अस्तांचल
सन्ध्या के दृग छल-छल।
स्तब्ध अंधकार सघन।
मंद गंध-भार-पवन,
ध्यान लग्न नैश गगन,
मूँदे पल नीलोत्पल।।

निराला जी ने अपने अधिकांश ''मोटिव्स'' प्रकृति से ही तलाशे हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रभाववादी प्रकृति चितेरों का सम्पूर्ण प्रकृति-चित्रण प्रकृति के मोटिव्स पर ही आधारित है, वे प्रकृति के ऐसे दृश्यों को ही चुनते हैं जिनमें वे अपनी भावनाओं की छाया देखते थे। इसीलिए प्रभाववादी चित्रण कला इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। निराला जी पौरुष के कवि थे। अतः प्रकृति के अधिकांश ''मोटिव्स'' को उन्होंने नारी के रूप में ही तलाशा और अपनी कोमल भावनाओं और सौन्दर्य चेतना से उसे अनुप्राणित कर, अपने सामने खड़ा करके वार्तालाप की मुद्रा में उसका चित्रत किया। ''यमुना के प्रति'' में कवि कोमल हृदया, प्रेम विभोर, एक नारी को साकार कर उससे पूछता है–

यमुने तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक प्रिया सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान,
बता, कहाँ अब वह वंशीवट,
कहाँ गए नटनागर श्याम।।

निराला जी ने ऋतुओं जैसे व्यापक प्रभाव को चित्रित करने के लिए सुन्दर प्रतीकों का चयन किया है, जिनके माध्यम से ऋतुएँ अपनी पूर्ण विशेषताओं के साथ मूर्त रूप में उपस्थित हो जाती हैं। ''वन कुसुमों की शय्या'' में कवि ने शरद और शिशिर को दो बहनों के रूप में चित्रित किया है–

सोती हुई सरोज अंक पर
शरत-शिशिर दोनों बहनों के
सुख-विलास-मद-शिथिल अंग पर
पद्म-पत्र पंखे झलते थे

मालती थी कर-चरण समीरण धीरे-धीरे आती–
नींद उचट जाने के भय से थी कुछ कुछ घबराती।

बसन्त का चित्रण भी अपने मौलिक रंग संयोजन की आभा को आत्मसात करते हुए ''पिक्चरस'' दृष्टिकोण से ही किया है। उन्होंने बसन्त के सम्पूर्ण वैभव का सुन्दर संयोजन एक चित्र के रूप में उपस्थित किया है। उसके व्यापक सौन्दर्य को अल्प शब्द संयोजन से बड़े ही शक्तिशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है। उनकी कलम के साथ चलती हुई चित्र पर तूलिका धरा को वासन्ती रंग में रंगती हुई चित्र पर चित्र उभारती चली जाती हैं। इन के बसन्त चित्रण में पक्षियों का कलरव, पुष्पों की सुगन्ध और बसन्त के रंग सभी का बोध एक साथ होता जाता है–

रँग गई पग-पग धन्य धरा,
हुई जग जगमग मनोहरा।
वर्ग-गन्ध धर, मधु-मरन्द भर,
तरु-उर की अरुणिमा तरुणतर
खुली रूप कलियों में पर भर
स्तर-स्तर सुपरिसरा।
गूँज उठा पिक-पावन-पंचम,
खग-कुल-कलरव मृदुल मनोरम,
सुख के भय काँपती प्रणय-कलम
वन श्री चारूतरा।

अपनी अन्तर्दृष्टि से निराला जी ने प्रकृति के जितने ''मोटिव्स'' को तलाशा है उतना संभवतः किसी कवि या चितेरे ने नहीं। बसन्त के चित्रण में प्रकृति ही उसका स्वागत करती है यह खोज उनकी व्यापक दृष्टि का ही कमाल है।

मंजरियों के मुकुटों में

निराला जी की वर्षा ऋतु अपने सम्पूर्ण वातावरण के साथ चित्रित हुई है, जिसमें उमड़ते-घुमड़ते काले बादल, फुहारों का झीना जाल, उसमें नहाते हुए वन-उपवन और बिजली की चकाचौंध सब कुछ एक सुन्दर ''पिक्टोरियल कम्पोजिशन'' के रूप में संयोजित हुआ है इसमें एक भी चित्रतत्त्व अनावश्यक प्रतीत न होकर महाकवि कालिदास और टर्नर की याद दिला जाते हैं।

श्याम घटा घन घिर आई।
पुरवाई फिर फिर आई।
बिजली कौंध रही है छन-छन,
काँप रहा है उपवन-उपवन,

निराला जी की अभेदसृजन दृष्टि ने वर्षा के विविध रूपों को बड़े ही व्यापक रूप से चित्रित किया है। उनके चित्रण में आकाश से लेकर धरती तक का विस्तार मिलता है, जिसमें वन-उपवन और खेतों में उगी हुई ज्वार की परियों के झूमने तक के चित्र हैं। शरद और शिशिर का चित्रण करते समय निराला जी का सूक्ष्म निरीक्षण देखते ही बनता है। इनके चित्रों में ऋतुओं के प्रभाव तथा प्रकृति के बदलते हुए रूपों को आसानी से देखा जा सकता है—

बह चली अब अलि, शिशिर समीर।
काँपी भीरू मृणात वृन्त पर
नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर
प्रात-अरुण को करुण अश्रु भर
लखतीं अहा अधीर।।

निराला की अभेद दृष्टि से प्रकृति के छोटे से छोटे जीव जन्तु, पशु-पक्षी, तिनके और उन पर पड़ी हुई ओस की बूँदें तक नहीं बच पाई हैं। शरद के प्रारम्भ होने पर खंजन पक्षी का दिखाई पड़ना, हेमन्त में अलसी के नीले फूलों का खिलना आदि सब कुछ जीवन्त रूप में इनके काव्य में चित्रित हुआ है। निराला जितने कोमल है उतने कठोर भी हैं। इन दोनों की अभिव्यक्ति इन्होंने प्रकृति के विराट चित्रण के माध्यम से की है, ''बादल राग'' उनके चित्रण की कुशल अभिव्यक्ति है। ''परिमल'' में ''बादलराग'' की छह कड़ियाँ हैं। ''नये पत्ते'', ''बेला'' और ''आराधना'' में भी वर्षा और बादल के चित्रण हैं। ''गीतगुंज'' में वर्षा पर इनकी सर्वाधिक रचनाएँ हैं। निराला जी ने बादल राग की रचना बड़े ही कौशल के साथ की है। बादल कवि के सम्पूर्ण भावान्दोलन को प्रतिबिम्बित करते हैं। इसलिए कवि को ये बहुत पसन्द है, वह बादलों से अपने देश से चलने की प्रार्थना भी करता है। कवि बादल की मुक्त वृत्ति पर मुग्ध है क्योंकि वह सभी प्रकार की बाधाओं को पार करके उन्मुक्त आकाश में विचरण करता है। बादल से कवि को विद्रोही स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। कवि को उसका गर्जन भी पसन्द है, भले ही उससे कलियाँ और पत्र काँप जाते हों और नीड़ के पक्षी भयभीत हो जाते हों, फिर भी कवि को उसके ये रूप आकर्षित करते हैं। यहाँ कवि ने प्रकृति का नितान्त अपने ढंग से मानवीकरण किया है। कवि ने बादलों को अर्जुन जैसे वीर के रूप में चित्रित किया है, जिसके हाथ में इन्द्रधनुषरूपी गाण्डीव है, जिसकी गड़गड़ाहट रथ के चलने की ध्वनि है। इस प्रकार उसका बादल विश्वविजय के लिए सक्षम है। यहाँ कवि का अजेय पौरुष बादलों में प्रतिबिम्बित हुआ है। उनके बादलों में सेवापरायणता और संसार को जलदान करनेवाले रूप के भी ''शेड्स'' हैं। यही बादल उनके पौरुष का एक और रंग दर्शाते हैं, वे स्वर्ग के प्रवासकाल की समाप्ति पर श्यामा के अधरों की प्यास भी मिटाते हैं। इन सबसे कहीं आगे कवि बादलों को

प्रकृति के उन्मुक्त आँगन में खेलते हुए एक चंचल बालक के रूप में भी चित्रित करता है। इन्हीं बादलों को वह निराकार ब्रह्म के रूप में भी देखता है– यह ''शिशु अन्धकार में किलकारियाँ भर रहा है, विद्युत इसके घुँघराले बालों में झलक उत्पन्न कर रही है और किरणें उसके मुख को आलोकित कर रही हैं। वह एक ऐसा गायक है जो इन्द्रधनुष के सप्तक पर मुक्त कण्ठ से किसी राग को छेड़कर वर्षा के झर-झर रव से मधुर प्रपात को विश्व के कानों में उड़ेल रहा। ''पाँचवे अंश में बादल को कार्य कारण से परे उसे निराकार ब्रह्म के रूप में देखा गया है। जिसकी वन्दना सूर्य, चन्द्र, तारें करते हैं और जो कवियों का प्रेरणास्रोत है। उसकी श्यामला नयन का वह अंजन है जो ज्ञान का प्रदाता है।''[2]

निराला जी की प्रकृति चित्रण की व्यापकता में जहाँ एक ओर प्रकृति के विविध रूपों के भावमय चित्र मिलते हैं वहीं दूसरी ओर नारी और पुरुष के शाश्वत सम्बन्ध भी व्यंजित हुए हैं। रात का दिन के प्रति, जल का अग्नि के प्रति, किरण का लहर के प्रति, लहर का कमल के प्रति आदि सम्बन्ध इसी रूप में व्यक्त हुए हैं। निराला बिम्ब विधान के अद्‌भुत कवि है। यह इनकी लेखनी का ही ध्यान है कि इनके बिम्ब कभी प्रतीक बनकर अर्थ देते हैं और इनके प्रतीक कभी-कभी अनेक बिम्बों का सृजन करते हैं।

''सारांशतः कहा जा सकता है कि बिम्ब विधान की दृष्टि से निराला बेजोड़ हैं। उनके बिम्ब सौन्दर्य से सम्पन्न शोभित है। चराचर जगत् का कोई भी कोना हो, उपादान हो, निराला की सूक्ष्म बिम्ब विधायिनी दृष्टि से बचने नहीं पाया है, वास्तव में निराला का सम्पूर्ण काव्य बिम्बों की बहुकर्णी चित्राकर्णी चित्रशाला है। निराला के चाक्षुण, श्रावण, स्पर्श, गत्थर, शब्द वर्ण आदि नानाविधि बिम्ब चित्त को बरबस चुरा लेते हैं। छायावादी कवियों में निराला बिम्ब विधान की दृष्टि से जितने सफल रहे हैं वैसा कोई दूसरा सफल नहीं रहा। निराला के बिम्ब संयोजन की दृष्टि से व्यापक एवं विविध हैं।''[3]

संभवतः इनके काव्य का कोई भी पक्ष अछूता नहीं बचा, चूँकि चित्रकला एक विश्वव्यापक विषय है। यहाँ उनकी चित्रण दृष्टि पर ही विशेष बल दिया गया है। यों तो चित्रण प्रारम्भ से ही काव्य की एक विधा रहा है परन्तु निराला जी ने इसे कुछ नूतन आयाम दिए हैं, उन्होंने स्पष्ट से इसका उल्लेख भी किया है कि चित्र केवल चित्र न होकर भावों का सम्प्रेषण भी करते हैं। इसीलिए उनके सिद्धान्त आधुनिक चित्रकला के आदर्श भी हैं। निराला जी ने काव्य की पूर्णता के लिए चित्र को अनिवार्य माना हैं अपने निबन्ध 'कविता में चित्र और भाव' में विस्तार से बताया है–

''काव्योद्यान में मुख्यतः दो तरह के पुष्प हैं–एक सीजनल फ्लावर की तरह, अनेक रंगों की चमक और सजधज से आंखों में तृप्ति, सुख चकाचौंध भर देते, दूसरे सिर्फ सफेद सादगी रखने पर भी सुगन्ध में चित्र को चुरा लेते हैं। पहले प्रकार के पुष्प

चित्र हैं, दूसरे प्रकार के भाव। दोनों अपरापर इन्द्रियों से एक ही मन को प्रसन्न करते हैं, अतः दोनों में कौन काव्य के ऊँचे स्थान पर है, हम नहीं कर सकते। ऊपर श्याम ने एक जगह भाव-चित्र के निर्मित रूप पर लिखा है, जिसका हम यहाँ हिन्दी रूप पाठकों के अवलोकनार्थ रखते हैं–

''जागो जागो, रात बीत गई, तरुण प्रभात ने आँखों की किरणों के तीरों में रात्रि में बेध डाला है।''

कवि बड़ी खूबी से संसार को प्रकाशभिमुख कर रहा है। यहाँ भावना भी है, एक किशोरी का ज्योतिर्मयी चित्र भी। केवल भाव-प्रधान जो कविता होती है, उसमें रूप नहीं होता। भावना की ही चाँदनी रहती है। अधिकांशतः मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक कविताएँ इसी तरह की होती हैं। वेदान्त के भाव इसी तरह के हैं, पर रूप न रहने के कारण बहुत से समीक्षक उन पंक्तियों को कविता नहीं मानते।

निराला आधुनिक हिन्दी के महाकवि के रूप में तो प्रतिष्ठित हैं ही, साथ ही साथ उनकी चित्रात्मक दृष्टि उन्हें विश्व के श्रेष्ठतम चितेरों के सामने खड़ा कर देती है। इनके कमल के ''स्ट्रोक'' किसी भी विश्व स्तर के चितेरे के ''ब्रश स्ट्रोक'' से कम शक्तिशाली नहीं हैं। इनका बिम्ब और प्रतीक विधान आधुनिक चित्रकला का प्राण तत्त्व है। निराला जी के काव्य के माध्यम से प्रकृति चित्रण की परम संभावनाओं को खोजा है। इसीलिए उनकी कला विश्व स्तर तक पहुँच सकी। इसी चित्रण दृष्टि के आधार पर वानगो जैसे महान चितेरे के साथ उनका अध्ययन प्रासंगिक है। चित्रकार केवल चित्रण करता है, वर्णन नहीं कर पाता। निराला जी ने भी कहा है–''सूक्ति या उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।''

कवि परम्परा-सिद्ध सामान्य-भाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा और ब्रजभाषा के पुण्य की पड़ताल

कृष्ण चन्द्र गोस्वामी 'विभास'*

किसी भी भाषा के स्वरूप-गठन में जिस तरह उस भाषा-क्षेत्र का भूगोल प्रभावी भूमिका निभाता है, ठीक उसी प्रकार, भाषा-विशेष को महिमावान बनाने में उस भाषा-क्षेत्र में घटित समकालीन सांस्कृतिक और राजनीतिक घटनाक्रम का भी असाधारण हस्तक्षेप रहता है।

भाषा और भूमि के पारस्परिक सम्बन्धों की प्रगाढ़ता देश की विभिन्न प्रादेशिक भाषा यथा; सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, कश्मीरी, मराठी, कोंकणी, कन्नड, मलयालम, तमिल, तेलुगु, ओड़िया, बांग्ला, असमिया आदि में ही नहीं अपितु हिन्दी की तमाम उपभाषाओं यथा; ब्रजभाषा, कौरवी, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, छत्तीसगढ़ी, बघेली, बुन्देली, मालवी, हाड़ौती, मेवाड़ी, मारवाड़ी, ढूँढाड़ी और मेवाती आदि में नित्यसिद्ध रूप से अनुभव की जा सकती है क्योंकि इन तमाम भाषाओं-उपभाषाओं का नामकरण उनके भूगोल से आत्यन्तिक रूप से सम्बद्ध है।

जहाँ तक, किसी काल-विशेष में किसी पूर्व-प्रतिष्ठित भाषा के स्थान पर किसी अन्य भाषा-विशेष के महिमावान होने का प्रश्न है तो हमें अपनी हिन्दी-भाषा की गत एक हजार वर्ष की विकास-यात्रा और उसमें आए परिवर्तन के उन दोनों दौरों का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है; जब आदिकालीन साहित्यिक-भाषा के स्थान पर मध्यकाल में ब्रजभाषा और आधुनिक-काल में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली महिमावान होती दिखाई देती है।

* सह-आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, महारानी श्रीजया महाविद्यालय, भरतपुर, मो. 9414650383
श्री निकुंज, बी. 90 जवाहर नगर, भरतपुर भरतपुर-321001 (राज.)

हिन्दी-भाषा के विकास-क्रम के सन्दर्भ में भाषा-परिवर्तन की उपर्युक्त दोनों घटनाएँ भले ही प्रथम-दृष्ट्या एक जैसी प्रतीत होती हों, किन्तु, जब हम इस विषय पर कुछ गहराई से विचार करते हैं, तब यह बात सहज ही ध्यान में आती है कि इन दोनों घटनाक्रमों की पृष्ठभूमि में दो भिन्न प्रकार की कार्य-कारण शृंखलाएँ काम कर रही थीं। ब्रजभाषा का उत्कर्ष यदि उत्तरापथ की भाषा-परम्परा के विकास-क्रम की प्रकृत परिणति थी तो खड़ी बोली का उन्मेष उत्तरापथ की भाषा-परम्परा के विकास के समक्ष आ खड़ी हुई सम-सामयिक चुनौतियों को हिन्दी-कुल की तमाम उपभाषाओं की ओर से दिए गए साझे उत्तर का मूर्त्तमन्त परिणाम।

उत्तरापथ की भाषा-परम्परा : विकास का प्रकृत-पथ

वैदिक काल में ही मनीषियों के सामने यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि भारत-भूमि पर रहने वाले लोग नानाविध कर्त्तव्य-कर्मों के कर्त्ता और बहुविध भाषाओं के बोलने वाले हैं। इस बात का संकेत हमें यजुर्वेद के पृथिवी-सूक्त के उस मंत्र से मिलता है, जहाँ कहा गया है कि–

"जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसां नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।"

भाषाओं के इस वैविध्य को ही हमारे पूर्व-पुरुषों ने प्राकृत नाम दिया था। भाषा-दार्शनिकों की बैखरी भी यही है। देश-काल की गति के अनुसार स्वयं को सतत परिवर्तित करते चले जाने के स्वभाव के कारण यह व्याकरण के अनुशासन से मुक्त और इसीलिए यह अनेकरूपा है; अनन्त है। इस भाषागत नानात्व के समन्वय और संस्कार के द्वारा पुराकाल में जो भाषा-रूप आविष्कृत हुआ; उसे संस्कृत कहा गया। देश-भेद से यही संस्कृत उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य नामों से जानी गई और सम्पूर्ण उत्तरापथ में चिन्तन-सृजन का माध्यम बनीं।

प्राकृत का विकास

मध्यदेशीय-भाषा का केन्द्र मथुरा था जो कालान्तर में यहाँ के राजा शूरसेन के नाम पर शूरसेन-देश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिस काल-खण्ड में संस्कृत के समानान्तर लोकभाषाओं में आत्माभिव्यक्ति की आकुलता बढ़ी, उस काल-खण्ड में इस भू-भाग की भाषा शौरसेनी-प्राकृत के नाम से जानी गई। यह इस प्राकृत-युग की सबसे अधिक उन्नत, लोकप्रिय तथा सम्पन्न भाषा थी। कलिंगराज खारवेल के शिलालेख इसी शौरसेनी-प्राकृत में लिखे गए हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि ने अपने ग्रन्थ 'प्राकृत-प्रकाश' में मागधी-प्राकृत को प्रकृति शौरसेनी के तत्त्वों से निर्मित मानी है। (11/2) इसी प्रकार; डॉ. सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय और श्री मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री-प्राकृत का

सम्बन्ध मध्यदेश की भाषा शौरसेनी से माना है। उनके अनुसार महाराष्ट्री-प्राकृत शौरसेनी-प्राकृत और शौरसेनी-अपभ्रंश के मध्य की कड़ी है।

यही नहीं; पुरुषोत्तम देव ने अपने ग्रन्थ 'प्राकृतानुशासन' में न केवल पैशाची की सामान्य विशेषताओं के कथनोपरान्त 'शेषे शौरसेनीवत्' कहा है; अपितु मागधी को शौरसेनी पर आधारित, टक्कदेशीय-प्राकृत को संस्कृत और शौरसेनी से सम्बद्ध; कैकय पैशाचिका को संस्कृत और शौरसेनी की विकृति तथा अवन्ती-भाषा को महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत के तत्त्वों से निर्मित माना है। इसप्रकार; प्राकृत-काल में शौरसेनी का महत्त्व ध्यान में आता है। यही कारण है कि डॉ. चन्द्रभान रावत ने इस शौरसेनी-प्राकृत को हिन्दी-क्षेत्र की बोलियों का स्रोत और ब्रजभाषा का प्राचीन रूप कहा है। (मथुरा जिले की बोली, पृ. 20-21)

अपभ्रंश का उत्कर्ष

प्राकृत के उपरान्त भाषा-विकास की इस शृंखला का आगामी चरण अपभ्रंश के रूप में सामने आया। साहित्यिक भाषा के रूप में इसका विस्तार बहुत अधिक था। लगभग 800 ई. से लेकर 1200-1300 ई. पर्यन्त शौरसेनी-अपभ्रंश उत्तर-भारत में एक विराट साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। डॉ. सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा है – इन शताब्दियों में सिंध से पूर्वी बंगाल तक, कश्मीर, नेपाल, मिथिला से लेकर महाराष्ट्र और उड़ीसा तक तमाम आर्यावर्ती देश इस शौरसेनी या नागर-अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बन गया था। (पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ. 79)। राहुल जी ने इस बात को दूसरे शब्दों में यों रखा है—"अपभ्रंश में साहित्य रचने वालों में सरहपा और शबरपा बिहार-बंगाल के निवासी थे; अब्दुर्रहमान का जन्म मुल्तान में हुआ था। स्वयंभू और कनकाभर अवधी और बुन्देली क्षेत्र के थे तो हेमचन्द्र और सोमप्रभ गुजरात के। काव्य-रसिक और आश्रयदाता के रूप में 'मान्यखेर' (मालखेड़ा, निजाम हैदराबाद) का भी इस साहित्य-सृजन में हाथ था।" (हिन्दी काव्यधारा, पृ. 5-6) इसी क्रम में यदि आदिपुराण, जसहर चरित्र, णायकुमार चरित्र के रचयिता पुष्पदन्त का नाम और जोड़ लिया जाय तो दक्षिण का नाम भी काव्य-रसिक या आश्रयदाता के स्थान पर साहित्य-सर्जकों की सूची को समृद्ध करने वालों में जुड़ जाएगा। जो भी हो, राहुल जी का यह कहना एकदम सत्य है कि हिमालय से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक ने अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण में हाथ बँटाया है। (हिन्दी काव्यधारा, पृ. 6) शौरसेनी-अपभ्रंश के प्रयोगों के इस विराट परिदृश्य को देखकर ही डॉ. चट्टोपाध्याय कदाचित् इस निष्कर्ष पर पहुँचे होंगे—"शौरसेनी-अपभ्रंश उन दिनों आन्तर-प्रादेशिक भाषा ही थी और आजकल की ब्रजभाषा, खड़ी-बोली आदि विभिन्न प्रकार की हिन्दी का उद्भव इस शौरसेनी अपभ्रंश से ही हुआ है।" (पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ, 79)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्धचरित' की भूमिका में उत्तरापथ की काव्य-भाषा का विचार करते हुए पहले प्राकृत रचनाओं में उपलब्ध सन्देसडयो, बुड्डउ, दीन्हउ, लीन्हउ, डुब्बिउ, जाइयउ, उडावियउ और बँधियउ आदि शब्दों में ब्रजभाषा के संदेसो, बड़ो, दीन्हो, लीन्हो, डूब्यो, जायो, बँध्यो के पूर्व रूपों के साथ-साथ गुजराती के उडावियो (ब्रज में उड़ायो) तथा मारवाड़ी के 'इक्कज' जैसे शुद्ध रूपों के प्रयोग तथा उसके बाद 11वीं शती से 14वीं शती तक की अपभ्रंश रचनाओं में मिलने वाले भरिया (पंजाबी, भर्‌या; अवधी एवं खड़ी बोली में भरा तथा ब्रजभाषा में भर्‌यौ), दिन्हा (दिया, दियौ) आदि शब्दों के उदाहरणों के साक्ष्य से प्राकृत और अपभ्रंश – दोनों ही भाषा रूपों को ढाँचे के स्तर पर ब्रजभाषा के क्षेत्र का और व्याप्ति की दृष्टि से अवधी, पंजाबी, राजस्थानी, कौरवी, बैसवाड़ी, भोजपुरी और मैथिली के शब्दों और रूपों से उपकृत दिखाया है। यही कारण है कि उन्होंने इनको किसी एक स्थान-विशेष की बोलचाल की भाषा न मानकर 'कवि-परम्परा-सिद्ध सामान्य-भाषा' कहा है। वस्तुतः शुक्ल जी का मत है कि इन काव्य-भाषाओं में आजकल की विभिन्न हिन्दी-बोलियों के मुख्य-मुख्य रूपों के बीज या अंकुर विद्यमान रहे हैं।

ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी ने यहाँ 'कवि-परम्परा-सिद्ध सामान्य-भाषा' इस समस्त-पद के साथ जिस तरह; 'बोलचाल की भाषा' का उल्लेख किया है; उससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत समस्त-पद से उनका अभिप्राय 'साहित्यिक भाषा' से है। जिसमें भाषा की दोनों शैलियाँ गद्य और पद्य शामिल हैं।

ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा

भाषा-विकास के अगले चरण में काव्य-भाषा के रूप में जिस भाषा को प्रतिष्ठा मिली, वह कभी 'पिंगल' तो कभी केवल 'भाषा' के नाम से पुकारी जाती रही। ढाँचे की दृष्टि से यह ब्रज के हृदय क्षेत्र की भाषा थी जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश की तरह हिन्दी की तमाम प्रमुख बोलियों के शब्दों और रूपों का समावेश तो था ही; लेकिन साथ में एक नई और अत्यन्त प्रबल प्रवृत्ति संस्कृत के तत्सम और तद्‌भव शब्दों को आत्मसात् करने के आकर्षण के रूप में इसमें विद्यमान थी। आगे चलकर यह भाषा 'ब्रजभाषा' के नाम से सर्वदूर समादृत हुई।

यह ठीक है कि पुराकालीन लोक-भाषा ने पहले प्राकृत और तदनन्तर अपभ्रंश के रूप में संस्कृत शब्दावली से प्रायः उदासीन रहकर भी देश में काव्य-भाषा का आदर प्राप्त किया था, किन्तु चिन्तन-सृजन के क्षेत्र में विद्यमान संस्कृत का प्रवाह इनके समानान्तर निर्बाध रूप से चलता रहा। धर्म, दर्शन, और शास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दूकुश से ब्रह्मपुत्र और हिमालय से हिन्द महासागर पर्यन्त इसे विद्वानों के मध्य अत्यन्त आदर प्राप्त था। इस प्रकार, देश में राजकाज की सामान्य-भाषा संस्कृत थी, उदाहरण के लिए; कन्नड राष्ट्रकूटों की मातृभाषा थी किन्तु उनके अधिकांश शिलालेख,

ताम्रपत्र आदि संस्कृत में ही मिले हैं। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त पादाचार्य की टीका 'अभिनव-भारती' की रचना भले ही कश्मीर में हुई हो; किन्तु आज उसकी एकमात्र लब्ध-पाण्डुलिपि हमें केरल से प्राप्त हुई है। अद्वैतवादी शंकर और भक्तिमार्गी रामानुजादि आचार्यों के भाष्यादि संस्कृत में लिखे गए हैं। श्री जयदेव विरचित 'गीत-गोविन्द' देश को बंगाल की सुमधुर भेंट है। यही नहीं; श्री चैतन्यदेव न्यायशास्त्र के पंडित थे और उनके शिष्य – श्री रूप-सनातन एवं जीव गोस्वामी ने गौड़ देश से वृन्दावन जाकर भागवत की टीका तथा भक्ति-सिद्धान्त प्रतिपादक अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना संस्कृत में की। तात्पर्य यह कि संस्कृत केवल उत्तर या पश्चिम भारत को ही नहीं, अपितु सुदूर-पूर्व और सुदूर-दक्षिण पर्यन्त सम्पूर्ण भारतवर्ष को एकसूत्र में पिरोने का काम करती आ रही है।

काव्य-भाषा के रूप में नयनोन्मेष करते समय ही ब्रजभाषा ने संस्कृत की इस शक्ति को न केवल पहचाना; अपितु उत्साहपूर्वक उसे आत्मसात् भी किया। यही कारण है कि आदिकालीन हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक शालिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' (रचनाकाल : 1241 सं.) में प्रयुक्त गिरि, कंध, सन्धि, जैसे तत्सम तथा कूरम, सेस, सिसु तथा कंचण जैसे तद्भव रूपों से लेकर 'नेमिनाथ फागु' के 'करि कंकण मणिवलयचूड़ खलकावइ बाला।' तथा 'प्रद्युम्नचरित' के 'नित नित भीजइ बिलषी खरी।' जैसे प्रयोगों में न केवल भाषा रूप और शब्दावली की दृष्टि से ब्रजभाषा की प्रौढ़ता झलकती है; अपितु तत्सम और तद्भव शब्दों के प्रति उसका प्रेम भी प्रकट होता है। आगे चलकर भक्तिकाल में ब्रजभाषा की यह तत्सम-तद्भव प्रियता जिस सीमा तक बढ़ी उसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

बनी श्री राधा मोहन की जोरी।
इन्द्र-नील-मनि श्याम मनोहर, सात कुम्भ तनु गोरी।।
भाल विशाल तिलक हरि, कामिनि चिकुर चन्द्र बिच रोरी।
गजनायक प्रभु-चाल, गयन्दनि-गति बृषभान किसोरी।।

यह पद गोस्वामी हित हरिवंश जी की रचना है जिनकी जन्मभूमि देवबन्द है। उपभाषा की दृष्टि से यह कौरवी-भाषी क्षेत्र में पड़ता है। सामान्यतः सर्वनाम, क्रिया, प्रत्यय और उपसर्गों को श्री किशोरीदास बाजपेयी आदि हिन्दी के सभी वैयाकरणों ने भाषा-विशेष की निजी पूँजी कहा है अर्थात् इनका एक भाषा से दूसरी भाषा में आना-जाना नहीं होता। किन्तु ब्रज का तत्सम-अनुराग इस सीमा तक प्रबल है कि वह इस मर्यादा को भी मानने को तैयार नहीं। 'धाव' दौड़ना के अर्थ में संस्कृत की क्रिया है किन्तु इससे सूरदास को क्या? उनके यहाँ श्रीकृष्ण 'अनिमय कनक नन्द के आँगन' में 'बिम्ब पकरिबे धावत' है, तो है।

खैर; इस प्रसंग का विस्तार न करते हुए आप सबका ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि ब्रजभाषा ने किस प्रकार संस्कृत की तत्सम और तद्भव शब्दावली को आत्मसात् करके ऐसी सामर्थ्य अर्जित की, कि पंजाब-सिन्ध से लेकर बंगाल और असम तक ही नहीं, अपितु विन्ध्य पार धुर दक्षिण में केरल तक दौड़ लगाने में उसे कहीं भी कठिनाई नहीं हुई। क्या निर्गुण-क्या सगुण; क्या रामभक्त-क्या कृष्णभक्त; क्या वैरागी-क्या अनुरागी; क्या कवि-क्या आचार्य; क्या मोगल-क्या पठान; क्या स्त्री-क्या पुरुष सभी शताब्दियों तक इस ब्रजभाषा को गुनगुनाते रहे। इसप्रकार; ब्रजभाषा ग्यारहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी पर्यन्त उत्तर-भारत की भाषा-परम्परा के विकास-क्रम के प्रकृत परिणाम के रूप में 'कवि-परम्परा-सिद्ध सामान्य-भाषा' बनी रही।

यहीं पर इस बात का उल्लेख किया जाना समीचीन होगा कि इस सुदीर्घ अवधि में ब्रजभाषा के अतिरिक्त हिन्दी की जिन उपभाषाओं ने साहित्य के क्षेत्र में अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन किया उनमें एक उपभाषा है मैथिली। यह ठीक है कि विद्यापति ने अपनी पदावली में पुरानी मैथिली का प्रयोग किया है किन्तु इसमें ओकारान्त विशेषण और संज्ञा तथा भूतकालिक ओकारान्त क्रियाओं और सर्वनामों के ऐसे अनेकानेक रूप मिलते हैं जो इसे ब्रजभाषा से प्रभावित घोषित करते हैं (विद्यापति, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 211)। हमारा अनुमान है कि मैथिली के औक्तिक रूप में संस्कृत के तत्सम-तद्भव रूपों का समावेश करने की दृष्टि से भी विद्यापति ब्रजभाषा से प्रभावित हुए हैं। उनकी पदावली से ये दो पंक्तियाँ देखिए –

सिखि कुल नाचत अलिकुल यंत्र। द्विज कुल आन पढ़ आसिस मंत्र।
चंद्रातप उड़े कुसुम पराग - मलय पवन सह भेल अनुराग।।

इस तरह; विद्यापति के हाथों मैथिली को जो साहित्यिक रूप मिला उसे हम मैथिली भाषा का 'कवि-सिद्ध-रूप' कह सकते हैं क्योंकि इसके व्यवहार-क्षेत्र की सीमाएँ स्पष्ट हैं।

इस क्रम की दूसरी उपभाषा है अवधी; जिसे दो बड़े कवियों के प्रातिभ-सामर्थ्य का बल मिला है; इनमें से एक हैं पद्मावत के रचनाकार जायसी और दूसरे हैं रामचरितमानस के प्रणेता तुलसीदास। जायसी ने अवधी के ठेठ रूप को अपनाया। इसीलिए पदमावत की भाषा में तद्भव शब्दावली को विशेष मान मिला है। किन्तु; इसी कारण उनकी अवधी के सामान्य-प्रयोग का क्षेत्र तुलसी की तत्सम बहुला अवधी की तुलना में काफी सीमित हो गया है। ऐसी स्थिति में; हम कह सकते हैं कि पद्मावत की काव्य-भाषा 'कवि-सिद्ध लोकाभिमुख भाषा' है।

जहाँ तक तुलसी के 'रामचरितमानस' की भाषा का प्रश्न है तो वह केवल तुलसी के प्रखर-पांडित्य की ही वाहिका नहीं है; अपितु उनके संवेदनशील हृदय को

सर्जनात्मक अभिव्यक्ति देने में भी पूर्णतः सक्षम रही है। 'रामचरितमानस' के रचनाकार के रूप में तुलसी हिन्दी-क्षेत्र की जातीय-संस्कृति के परम-प्रतिनिधि कवि हैं। इसका एक प्रमाण हमें उन गिरमिटिया मजदूरों के प्रव्रजन में मिलता है जो अपने साथ केवल 'रामचरितमानस' का गुटका ले गए थे और वे जहाँ भी रहे; वहीं उन्होंने अपनी जातीय संस्कृति को इसी 'मानस' के सहारे हरा-भरा रखा।

काव्य-भाषा के रूप में 'मानस' की इस असीमित सामर्थ्य को देखकर ही आचार्य शुक्ल को कहना पड़ा कि 'महाकवि तुलसी के हाथों पड़कर अवधी भाषा पूर्व से पश्चिम तक ऐसी गूँजी कि काव्य की सामान्य-भाषा के रूप में अष्टछाप के कवियों द्वारा ब्रजभाषा ने जो चलता हुआ विशुद्ध रूप पाया था, उसमें बाधा का सामान हुआ।' (चिंतामणि-3, पृ. 209) किन्तु तुलसी की प्रतिभा; परम्परा न बन सकी; अवधी के कवि के रूप में उनकी शिखरता अद्वितीय रही। इसका परिणाम यह हुआ कि आन्तर प्रादेशिक व्यापकता के अभाव में अवधी को मध्यकाल की 'कवि-परम्परा-सिद्ध सामान्य-भाषा' नहीं माना गया।

मैथिली और अवधी दोनों उपभाषाओं के सन्दर्भ में किए गए उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी-क्षेत्र में कवि-परम्परा-सिद्ध सामान्य-भाषा के रूप में वही भाषा समादृत होती रही है जो काव्य-रचना के लिए अपने आधार-क्षेत्र की सीमाओं का अतिक्रमण कर बाहर के लोगों को भी प्रेरित कर सके। इस दृष्टि से ब्रजभाषा का आकर्षण प्रायः अखिल भारतीय रहा है। पंजाब में गुरुनानक देव और गुरु गोविन्द सिंह, सिन्ध में सधना और बसंतराम, दिल्ली में खुसरो और रहीम, अवध में महाकवि तुलसी, आचार्य भिखारीदास और शाह कुंदनलाल उर्फ ललित किशोरी, काशी में कबीर और रैदास, मिथिला में विद्यापति, बंगाल में भारतचन्द राय और गोविन्द दास, असम में शंकरदेव और माधवदेव, केरल में महाराज स्वाति तिरुनाल, देवगिरि में गोपाल नायक, महाराष्ट्र में नामदेव और एकनाथ, गुजरात में भालण, नरसी और केशव कायस्थ, बीजापुर में 'नवरस-नामा' के रचनाकार आदिलशाह, बुन्देलखण्ड में हरिराम व्यास और भूषण, राजस्थान में मीरा, गोकुल में रसखान, गोवर्द्धन में सूरदास आदि तथा वृन्दावन में स्वामी हरिदास से लेकर घनानन्द आदि ने ब्रजभाषा को समृद्ध किया। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ब्रजभाषा द्वारा तैयार इसी अखिल भारतीय पृष्ठभूमि पर आगे चलकर खड़ी-बोली हिन्दी की 'कवि-परम्परा-सिद्ध सामान्य-भाषा' के रूप में अधिष्ठित हुई।

खड़ी बोली : संघर्ष और प्रतिष्ठा

हिन्दी की काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा मध्यदेश के साहित्येतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इसका कारण यह है कि वैदिक काल से लेकर ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा पर्यन्त काव्य-भाषा के आधार-परिवर्तन की विभिन्न घटनाओं के

मूल में कालगति के साथ-साथ लोकरुचि में सहज रूप से आए परिवर्तनों की भी केन्द्रीय भूमिका रही थी। जबकि इस बार केवल ऐसा न था। लोकरुचि में परिवर्तन के साथ-साथ ब्रजभाषा की आन्तरिक दुर्बलताएँ यदि इस परिवर्तन का एक सामान्य कारण थीं; तो आक्रान्ताओं द्वारा भारतीय-भाषाओं की विकृति और लिपियों के विनाश के कठिन अनुभवों की पुनरावृत्ति से मध्यदेश की रक्षा करने की अपूर्व चुनौती भी यहाँ की जनता के सामने विद्यमान थी।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने मध्यकालीन हिन्दी काव्य-भाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि ब्रजभाषा अपने श्रेष्ठतम रूप में मूलतः तन्मयता के अनुभव को विकसित करती है। यह तन्मयता चाहे भक्त-भगवान-सम्बन्ध की हो; चाहे प्रेमी-प्रेमिका-सम्बन्ध की। इस युग के अधिकांश समाज के लिए तनाव न भाषा में था, और न जिन्दगी।... 19वीं शती के संघर्ष और तनाव के साथ इस तन्मयता का मेल नहीं खा सकता था। (पृ. 181) ऐसी स्थिति में, भक्तिकाल में जीवनोत्सव की उद्दाम तरंगों पर अठखेलियाँ करने वाली ब्रजभाषा, रीतिकाल में धीरे-धीरे वर्ण्य-विषय, अप्रस्तुत-विधान और शैली सभी दृष्टियों से रूढ़ियों में आबद्ध और इसीलिए जड़ीभूत हो चली थी। 'श्री राधिका-कन्हाई की भक्ति' या 'उनके सुमिरन के बहाने' का विकल्प ब्रजभाषा के लिए जो मार्ग खोलता रहा था; उनसे लोकरुचि की राह को नई परिस्थितियों ने दूसरी ओर मोड़ दिया।

भाषाओं की विकृति और लिपियों के विनाश की चुनौती

जहाँ तक भारतीय-भाषाओं की विकृति और लिपियों के विनाश के कठिन अनुभवों का प्रश्न है तो इसकी शुरुआत सिन्ध पर अरबों के वर्चस्व की स्थापना के साथ ही हो गई थी। पहले सिन्धी-भाषा में अरबी-भाषा की शब्दावली का विपुलता से प्रवेश और तदनन्तर; सन् 1853 ई. में सिन्धी-भाषा की लिपि 'हटवाणिको' के स्थान पर 'अरबी-सिन्धी' लिपि को अधिकृत रूप से मान्यता – ये दोनों ही प्रसंग इतिहास में अंकित हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज यह 'सिन्धी लिपि' हमारी जातीय विस्मृति का अंग बन चुकी है।

इसी तरह का दूसरा अनुभव पंजाब में आया जहाँ तुर्कों ने मुलतान में अपनी शक्ति सुदृढ़ होते ही; सिन्ध की भाषा और लिपि के विकृतिकरण और विनाश के इतिहास को दुहराना आरम्भ कर दिया। भक्तिकाल आते-आते पंजाब की भाषा का रूप क्या हो चला था इसका आभास हमें प्रसिद्ध सन्त और संगीतकार स्वामी हरिदास जिनके पिता संवत् 1530 विक्रमी (सन् 1473 ई.) के आस-पास मुलतान के पास स्थित उच्च नामक स्थान से सपरिवार प्रव्रजन कर वर्तमान अलीगढ़ के समीप विद्यमान कोर नामक स्थान पर आकर बस गए थे; की निम्न पद-पंक्तियों से मिलता है –

बन्दे अखतियार भला।
चित न डुलाव, आव समाधि भीतर न होउ अगला।।
न फिर दर-दर, पिदर-दर, न होउ अँधला।
कहैं (श्री) हरिदास करता किया सो हुवा सुमेरु अचल चला।।
(अष्टादस सिद्धान्त के पद, क्र.सं. 6)

पंजाब में भाषा के इस विकृतीकरण के कैसे भीषण परिणाम होंगे; इसे भाँपकर गुरु नानक देव (संवत् 1526-1595 विक्रमी) के उत्तराधिकारी गुरु अंगददेव ने पंजाब की जनता की दृढ़-संकल्प-शक्ति के सहारे न केवल पंजाबी-भाषा की रक्षा की; अपितु अपनी पारम्परिक लिपि में समयानुकूल परिवर्तन कर 'गुरुमुखी' के रूप में उसे नया जीवन भी प्रदान किया।

काश्मीर में भी इसी तरह का एक लम्बा दौर चला; किन्तु वहाँ सिख गुरुओं जैसा समर्थ और दृष्टि-सम्पन्न नेतृत्व न होने के कारण शारदा लिपि को बचाया न जा सका और आज काश्मीर के पारम्परिक लेखक अपने साहित्य को फारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि में लिखे जाने की मान्यता के लिए संघर्षरत हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'भारत के प्राचीन भाषा-परिवार और हिन्दी', भाग-1 में लिखा - "क्रमशः न केवल शारदा लिपि को वरन् काश्मीरी भाषा को भी शिक्षा और राजनीतिक क्षेत्रों से निकाल दिया गया है। किसी जाति की भाषायी और सांस्कृतिक विरासत को नष्ट करने की ऐसी मिसालें कम ही मिलेंगी। (पृ. 312-13)

इतिहास के इन उदाहरणों और उनके परिणामों से यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि रहीम और रसखान का रास्ता छोड़कर जो लोग हिन्दी साहित्य की पारम्परिक शब्दावली और लिपि से घृणा की सीमा तक परहेज के रास्ते पर गए; उनकी वास्तविक आकांक्षा क्या थी?

दक्खिनी-हिन्दी का मूल स्रोत

खड़ी बोली का काव्य-भाषा के रूप में विकास और उसकी प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में यह बात स्मरणीय है कि शौरसेनी-अपभ्रंश से हिन्दी की जिन आकारान्त बोलियों का विकास हुआ उनमें से एक दिल्ली के पूर्वोत्तर क्षेत्र—मेरठ, मुरादाबाद आदि में कौरवी के नाम से जानी गई और दूसरी दिल्ली के पश्चिमोत्तर क्षेत्र—वर्तमान हरियाणा में बाँगडू के नाम से प्रसिद्ध हुई जिसका हल्का असर पंजाब तक था। महाभारत-काल में ये दोनों क्षेत्र क्रमशः 'कुरु' जनपद तथा 'कुरु जांगल' के नाम से जाने जाते थे। इन दोनों क्षेत्रों की बोलियाँ लोकजीवन में तो बराबर प्रयुक्त होती रहीं; किन्तु साहित्य-लेखन की ओर से प्रायः वैसे ही उदासीन थीं; जैसे कि आज भी हिन्दी की अनेक बोलियों की स्थिति है।

जिन दिनों ब्रजभाषा शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित होकर तत्सम शब्दावली के साथ नई काव्य-भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी, उन्हीं दिनों भारत पर तुर्कों के आक्रमणों का सिलसिला आरम्भ हुआ। इन्होंने पहले मुलतान और उसके बाद दिल्ली को अपनी सत्ता का केन्द्र बनाया। ऐसी स्थिति, में जहाँ दिल्ली की बोली में फारसी शब्दावली का मिलना आरम्भ हुआ; वहीं तुर्कों के रोजमर्रा के व्यवहार में स्थानीय बोली का समावेश होने लगा। पारस्परिक आदान-प्रदान की इस स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम हम खुसरो की रचनाओं में देख सकते हैं।

दिल्ली की फौजों में तुर्कों के साथ मेवाती, बाँगड़ी, ब्रज, राजस्थानी और पंजाबी बोलने वाले नव-मतान्तरित सैनिकों की भी बड़ी संख्या थी। पहले अलाउद्दीन के आक्रमणों तथा बाद में तुगलक के राजधानी-बदल में इन लोगों का बहुतायत में दक्षिण की ओर जाना हुआ। इनके साथ एक ऐसी हिन्दी दक्षिण में अस्तित्व में आई जिसमें तेलुगु, मराठी और कन्नड का भी योगदान था। यह कदाचित् हिन्दी के उस अखिल भारतीय रूप का प्रथम पूर्वाभास था जो बाद में सर्वदूर फैली। उदू साहित्य के इतिहासकारों ने इस हिन्दी को 'उर्दू साहित्य' का अंग माना है, (देखिए : उर्दू साहित्य का इतिहास, डॉ. एजाज़ हुसैन) किन्तु दक्षिणी हिन्दी के तमाम लेखकों ने स्वयं की भाषा को 'हिन्दी' या 'रेख्ता' ही कहा है; उर्दू नहीं। ऐसा क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर हमें श्री किशोरीदास बाजपेयी की पुस्तक 'भारतीय भाषा-विज्ञान' में मिलता है, जहाँ वे दक्षिणी हिन्दी की मूल प्रकृति को बाँगडू प्रधान कहते हैं; कौरवी प्रधान नहीं। 'दक्खिनी का पद्य और गद्य' के लेखक श्रीराम शर्मा भी इसी मत के हैं। (पृ. 27) उन्होंने यह भी लिखा है कि तेलुगुभाषी इस हिन्दी को 'तुर्क की बात' या 'बाशा' कहते हैं। (पृ. 32) हम जानते हैं कौरवी जो दिल्ली-मेरठ-मुरादाबाद आदि में बोली जाती थी, के दो रूप खड़ी बोली और उर्दू के नाम से आगे चलकर बने।

उर्दू की राह

इधर; उत्तर-भारत में स्थानीय रंगत के साथ ब्रजभाषा में साहित्य-सृजन का कार्य चलता रहा। इसमें फारसी की ऐसी शब्दावली का समावेश था जो प्रतिदिन के व्यवहार का अंग बनने लगी थी। अकबर के शासन-काल के आस-पास जब ब्रजभाषा ने उन्नति के शिखरों का स्पर्श किया; तब भी उसमें फारसी की शब्दावली स्थानीय रंगत के साथ सानन्द विद्यमान रही। भक्ति-कालीन कवियों – सूर, तुलसी आदि की कविताओं में इसके अनेक प्रमाण देखे जा सकते हैं। उदार भारतीय जीवन-दृष्टि के कारण भाषा ही नहीं; धर्मोपासना में प्रतिष्ठित तत्कालीन उपास्य-विग्रहों की पोशाक तथा शृंगार आदि में भी फारसीयत की झलक – जामा, पायजामा, सिरपेच, तौंक, दस्ते, बाजूबन्द आदि न जाने कितनी ही वस्तुओं के साथ इस काल में तेजी से शामिल हुईं और आज भी विद्यमान हैं। किन्तु शाहजहाँ द्वारा दिल्ली में राजधानी बनाए जाने के साथ खड़ी बोली

जिसकी प्रकृति कौरवी-प्रधान थी; ने उर्दू के रूप में विकास करना आरम्भ किया और औरंगजेब के समय में यही 'उर्दू-ए-शाही' के नाम से प्रतिष्ठा पाने लगी।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में 'अनुराग-बाँसुरी' के प्रसंग में इस बात को रेखांकित किया है कि 'संवत् 1800 विक्रमी (सन् 1743 ई.) तक आते-आते मुसलमान हिन्दी से किनारा करने लगे थे और अपने पढ़ने-लिखने की भाषा फारसी ही रखना चाहते थे। (पृ. 74) आगे चलकर यह प्रवृत्ति और अधिक बलवती होती चली गई। फिर भी; अबतक सौदा जैसे रचनाकार हिन्दी में पहेलियाँ और दोहे लिख रहे थे। किन्तु बाद में, उर्दू शायरी में जो थोड़ी-बहुत इस देश की गन्ध थी; हिन्दीपन था उसे लखनऊ वालों ने छानकर अलग कर दिया। अब उर्दू केवल व्याकरणिक ढाँचे की दृष्टि से तो कौरवी थी किन्तु; सांस्कृतिक-परिवेश और काव्य-भाषा की दृष्टि से पूरी तरह फारसी की ओर झुक गई।

उल्लेखनीय है कि किसी भी देश का साहित्य उस देश की परम्परागत-भाषा, उस देश के प्राकृतिक स्वरूप, रीति-नीति, उत्सव-त्यौहार, कथा-प्रसंग आदि से सघनता से जुड़ा रहता है। ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि व्याकरणगत भिन्नता के होने पर भी यदि खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि सभी हिन्दी हैं तो उसका एकमात्र कारण है इन भाषाओं के सांस्कृतिक परिवेश और काव्य-भाषा में समानता का होना। जबकि उर्दू ने खड़ी बोली के साथ व्याकरणिक एकरूपता होते हुए भी सर्वथा अलग दिशा पकड़ी।

अंग्रेजों के शासन-काल में अदालतों और शिक्षा के क्षेत्र में उर्दू ने हिन्दी-विरोध की जो भूमिका अपने लिए चुनी; उसने क्या ब्रज; क्या भोजपुरी सारे हिन्दी-भाषी क्षेत्र को एकजुट कर हिन्दी-खड़ी बोली के पक्ष में आन्दोलित कर दिया। यह वह समय था जब कुछ तो लोकरुचि में आए परिवर्तनों और कुछ अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण ब्रजभाषा समसामयिक चुनौतियों का सामना करने में पूर्णतः समर्थ न थी।

ऐसी स्थिति में, भारतेन्दुजी ने यदि एक ओर काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा को जीवन की चुनौतियों की वाहिका बनाने और उसे समय के अनुकूल रूप देने का दुर्धर्ष प्रयत्न किया तो दूसरी ओर, गद्य जिसे जीवन-संग्राम की भाषा कहा जाता है और जिसके समयानुकूल रूप की आरम्भिक छटा राजा लक्ष्मण सिंह की रचनाओं में पहले-पहल दृष्टिगोचर हो चुकी थी; को खड़ी बोली की दिशा में दौड़ा दिया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में ठीक ही लिखा है —"जब भारतेन्दुजी अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिन्दी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया।" (आधुनिक-काल : प्रथम उत्थान, पृ. 308) इस तरह; भारतेन्दुजी के पुरुषार्थ के परिणाम-स्वरूप हिन्दी-भाषा और विशेष रूप में हिन्दी-गद्य

का स्वरूप तो स्थिर हुआ किन्तु उनके द्वारा किए गए तमाम प्रयत्नों के बाद भी ब्रजभाषा रीतिकाल की खुमारी से मुक्त न हो सकी। 'मीन-मृग-खंजन-कमलनैन' आदि उपमानों और प्रतीकों की रूढ़ियाँ उसे जकड़े रहीं। लक्षण-ग्रन्थों की रचना के आकर्षण ने ब्रजभाषा को शास्त्रों की ओर जितना पुरस्सर किया; उतना समाज-जीवन की ओर नहीं। जिन कवियों ने रीतिकाल में लक्षण-ग्रन्थ नहीं भी लिखे उनकी कविताओं की प्रेरणा का स्रोत भी शास्त्र ही था। वस्तु और शिल्प दोनों के लिए वे उधर ही उन्मुख थे। इस सबका परिणाम यह निकला कि काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित ब्रजभाषा शनैः शनैः जीवन के जीवन्त चित्रों की दृष्टि से प्रायः निर्धन हो गई।

भारतेन्दुजी; ने ब्रजभाषा के इस रोग को न केवल पहचाना, अपितु उसे समयानुकूल रूप देने के लिए सामर्थ्य-भर वह सब किया भी जो किया जा सकता था। किन्तु, समय के गर्भ में पुष्ट हो रहे परिवर्तनकामी-संकल्पों के सामने किसकी चली है?

यह ठीक है कि राजदरबारों से सम्बद्ध रहने के कारण उर्दू ने बड़े लोगों के मध्य व्यवहार की शिष्ट-भाषा के तौर पर सारे उत्तर-भारत में प्रतिष्ठा अर्जित की। किन्तु व्यवहार में फारसी-लिपि और फारसी-शब्दों की अधिकता के कारण वह इतनी जटिल होती गई कि उसे समझने के लिए सामान्य-जन को कदम-कदम पर फारसी के कोश-ग्रन्थों या मौलवियों का परामर्श अपरिहार्य हो गया। इस झंझट से बचने के लिए सामान्य-जन के व्यवहार में प्रधानतः पारम्परिक-शब्दावली का चलन बना रहा, भले ही उसमें फारसी के थोड़े-बहुत शब्द भी विद्यमान थे।

काव्य-भाषा और लिपि की रक्षा : ब्रजभाषा-कवियों का योगदान

यहीं पर; यह बात भी ध्यान दिए जाने योग्य है कि हिन्दी-क्षेत्र की जनता भक्तिकाल से ही सत्ता- संरक्षण से समर्थ फारसी के सामने जिस दृढ़ इच्छा-शक्ति के साथ अपनी पारम्परिक काव्य-भाषा और लिपि दोनों की रक्षा के लिए संकल्पबद्ध रही वह भारतीय भाषाओं के द्वारा आत्मरक्षार्थ किए गए तमाम प्रयासों के इतिहास में विलक्षण घटना थी। जनता के इन प्रयासों में ब्रजभाषा के कवियों का योगदान अत्यन्त महत्त्व का था। इन कवियों ने यदि एक ओर सामान्य-जीवन में लोक-भाषा के आग्रह को सुदृढ़ किया, तो दूसरी ओर, राज्याश्रित फारसी के आकर्षण का निर्भीकता से निषेध कर जन-सामान्य को साहित्य के क्षेत्र में अपने प्रकृत-पथ से भटकने से बचाया। कृष्ण भक्ति-धारा के कवियों में कबीर जैसी ओजस्विता से उद्दीप्त और अकबर के समकालीन स्वामी बिहारिनदास ने संस्कृत के अभिमान और फारसी के आकर्षण दोनों से बचने के लिए जन-सामान्य को इन शब्दों में सावधान किया—

(1) जाति बिगारी भक्ति लगि, करम बिगार्‌यौ ग्यानु।
ब्रज में भली न फारसी, सहंसकृत अभिमानु।।

(2) सहंसकृत जिनके बचन, ते जाँचें ब्रज धूरि।
ब्रज बसि बोलैं फारसी, बँधे जाँहिगे दूरि।।
(स्वामी बिहारिनदास की वाणी, साखी सं. 518-519)

जहाँ तक रीतिकाल का प्रश्न है तो ब्रजभाषा की दृष्टि से यह समय और भी अधिक चुनौतीपूर्ण था। शाहजहाँ के समय से आरम्भ हुई उर्दू के रूप में शाही-संरक्षण में एक दूसरी काव्य-भाषा, जो व्यवहार में वर्जनाशील थी, चुनौती बनकर आ खड़ी हुई। इस काल में ब्रज-भाषा के कवियों ने देशी राजाओं के आश्रय में अपनी काव्य-भाषा और लिपि, दोनों को फारसियत के प्रचण्ड दबाव से दृढ़तापूर्वक बचाए रखा।

ब्रजभाषा के रचनाकारों द्वारा अपनी पारम्परिक काव्य-भाषा और लिपि की रक्षा का यह आग्रह भक्तिकाल और रीतिकाल तक ही नहीं; अपितु आधुनिक काल के आरम्भिक दौर में भी कभी मौन, तो कभी मुखर रूप में बराबर बना रहा। 'निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल' यह मन्त्र भारतेन्दुजी से हिन्दी-जनता को मिला था और भारतेन्दुजी आधुनिक काल के प्रथम दौर में ब्रजभाषा के मूर्धन्य कवि थे, यह बात हम सबके ध्यान में है। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'भाषा और समाज' में हिन्दी-जनता के इस संघर्ष के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखा है —"छह सौ साल तक फारसी के राजभाषा रहने पर भी देवनागरी मिटी नहीं, इस पर हम गर्व करते हैं।" (पृ. 378) कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस गर्व के बड़े हिस्से पर ब्रजभाषा के कवियों की कीर्ति-गाथा अंकित है।

उत्तरापथ : भाषिक संवाद और सौमनस्य की भूमि

उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य भाषाविदों ने भारत में प्रधानतः दो भाषा-परिवारों की परिकल्पना की थी — एक आर्य-भाषा परिवार और दूसरा द्रविड़-भाषा परिवार। पारस्परिक सामंजस्य के सन्दर्भ में जब हम द्रविड़-भाषा परिवार की भाषाओं — तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम, का विचार करते हैं तो पाते हैं कि इन सभी भाषाओं में पारस्परिक सामजस्य और तज्जन्य संवाद का प्रायः अभाव है। जबकि उत्तर भारत का हिन्दी-भाषी क्षेत्र जिसे ग्रियर्सन महोदय ने राजस्थानी, पश्चिमी-पूर्वी, बिहारी और पहाड़ी जैसे वर्गीकरण द्वारा समझने की कोशिश की; इस दृष्टि से सामंजस्य और परस्पर-संवाद का अद्वितीय उदाहरण बना हुआ है।

प्रश्न यह है कि भाषिक-संवाद और सौमनस्य के जो दृश्य दक्षिण के भाषा-कुल में दृश्यमान नहीं हुए; आखिर वे उत्तर-भारत के हिन्दी-भाषी क्षेत्र में क्यों कर साकार हो सके? और वह भी तब, जब हिन्दी की प्रत्येक उपभाषा एक प्रौढ़-भाषा के तमाम लक्षणों से समृद्ध है। हमारे विचार से इस सबके पीछे प्रधान रूप से दो बातों को कारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। एक; इस क्षेत्र को लब्ध मध्यदेशीय संस्कृत,

शौरसेनी-प्राकृत और अपभ्रंश का स्वाभाविक उत्तराधिकार और दूसरा; भक्ति-काल की पुण्याई जिसमें ब्रजभाषा की बड़ी भागीदारी रही है। जिसका एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है मध्यकाल की काव्य-भाषा में देशज शब्दावली के प्रयोग का अनाग्रह और तत्सम-तद्भव शब्दावली का प्रचुरता के साथ प्रयोग।

आगे चलकर, जब हिन्दी-क्षेत्र की काव्य-भाषा का आधार ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली के रूप में परिवर्तित हुआ, तब न केवल तत्सम-तद्भव शब्दावली के व्यवहार की उपर्युक्त प्रवृत्ति खड़ी बोली को उत्तराधिकार में ब्रजभाषा से प्राप्त हुई; अपितु ब्रजभाषा के व्यवहार का व्यापक क्षेत्र भी उसे स्वाभाविक रूप से हस्तगत हुआ। ऐसी स्थिति में, 'ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानौं' की जो बात कभी आचार्य भिखारी दास ने ब्रजभाषा के देश-काल मुक्त व्यवहार को रेखांकित करते हुए कही थी – खड़ी बोली के सम्बन्ध में भी एक जीवन्त वास्तविकता बन गई। प्रमाणस्वरूप; यहाँ इस बात को ध्यान दिलाना अन्यथा न होगा कि खड़ी बोली के तमाम शीर्षस्थ कवियों, कथाकारों, निबन्धकारों, आलोचकों में से अधिकांश की मातृभाषा खड़ी बोली नहीं है। उदाहरणार्थ – मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, बच्चन, दिनकर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, कुबेरनाथ राय, विद्यानिवास मिश्र आदि का स्मरण यहाँ किया जा सकता है। इतना ही नहीं, सुखद आश्चर्य की एक अन्य बात यह भी है कि खड़ी बोली को सँवारने और प्रतिष्ठा देने में जिन संस्थाओं – यथा नागरी प्रचारिणी सभा आदि की ऐतिहासिक भूमिका रही है, उनमें से अधिकांश खड़ी बोली-क्षेत्र से बाहर अवस्थित रही हैं।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा किसी उपभाषा-क्षेत्र की महत्त्वाकांक्षा का परिणाम न होकर, सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र में अन्तर्व्याप्त सौमनस्य से उद्भूत संकल्प की ऐसी सगुण-साकार परणति है जिसकी कि पृष्ठभूमि में पूर्व में संकेतित 'भाषा-विकास के स्वाभाविक उत्तराधिकार' और 'भक्तिकाल की पुण्याई' की गहरी भूमिका रही है।

ब्रजभाषा : परकीय शब्दावली के ग्रहण की रीति

कवि-परम्परा-सिद्ध काव्य-भाषा के प्रकृत-रूप के संरक्षण और संवर्द्धन की दृष्टि से ब्रजभाषा के पुण्य को समझने के लिए परकीय भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने और उनका व्यवहार करने में ब्रजभाषा की जो नीति रही, उस पर भी जरा एक दृष्टि डाल ली जाए। ध्यातव्य है कि ब्रजभाषा ने अपनी उच्चारण-व्यवस्था के अनुकूल बनाकर ही ऐसी शब्दावली को अपनाया है। यही कारण है कि फारसी आदि के अनेक शब्द न केवल लोक व्यवहार में अपितु धार्मिक कार्यों में भी ब्रजभाषा के निजी कोश के अंग हो गए हैं। उनका प्रयोग करते समय किसी को भी उनके परायेपन का अनुभव नहीं होगा।

जहाँ तक खड़ी-बोली का प्रश्न है तो अंग्रेजी शासन की समाप्ति के उपरान्त भारतीय राजनेताओं की अदूर-दृष्टि के कारण भाषा-नीति ने जो रास्ता पकड़ा उसके परिणामस्वरूप ब्रजभाषा द्वारा परकीय शब्दावली को आत्मसात् करने के लिए अपनाए गए प्रकृत-पथ की घोर उपेक्षा की गई और हिन्दी वर्णमाला तक में ऐसी व्यवस्था की गई कि आगत शब्दावली का 'परायापन' सदा-सर्वदा ज्यों का त्यों बना रहे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी शब्दावली को अपनी उच्चारण-व्यवस्था के अनुकूल बनाकर ग्रहण करने के स्थान पर इनका सारा जोर स्रोत-भाषाओं के उच्चारण की नकल या निकटता पर रहा है। परिणामतः हिन्दी वर्णमाला में परकीय ध्वनियों के लिए विशिष्ट चिह्न परिकल्पित किए गए। उदाहरणार्थ क़, ख़, ग़, ज़, फ़ और ॅ (यथा - डॉक्टर) आदि द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार, 'परकीय-उच्चारण की नकल' के अटल-आग्रह के क्रम में भारत-सरकार के वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'दर्शन-परिभाषा-कोश' के सम्पादकीय वक्तव्य के निम्न अंश को भी अविकल रूप से उद्धृत किया जा सकता है –

विदेशी नामों के उच्चारण और लिप्यंतरण के सम्बन्ध में वेबस्टर कृत बायोग्राफिकल डिक्शनरी को मानक के रूप में स्वीकार किया गया है। अनेक प्रसिद्ध नामों का हिन्दी में जो लिप्यंतरण मिलता है उसमें एकरूपता दिखाई नहीं देती। किसी-किसी नाम का सर्वत्र अशुद्ध उच्चारण मिलता है। कुछ उदाहरण ये हैं –Bradley, Berkeley इत्यादि नामों को निरपवाद रूप से 'ब्रेडले', 'बर्कले' इत्यादि लिखा और बोला जाता है, लेकिन इनका सही रूप 'ब्रेडली', 'बर्कली' इत्यादि है। Bosanquet वास्तव में 'बोसान्के' नहीं बल्कि 'बोज़न्केट' है। Nietzsche 'नीट्शे' नहीं बल्कि 'नीचे' लिखा-बोला जाना चाहिए। इसी प्रकार Pythagoras, Peirce, Whewell, Euler का सही उच्चारण क्रमशः 'पिथेगोरस' या 'पाइथोगोरस' ('पाइथागोरस' नहीं), 'पर्स' ('पीयर्स' नहीं), 'ह्यूएल' ('ह्वीवेल' नहीं) और 'ऑयलर' ('यूलर' नहीं) है।

Socrates और Aristotle के सम्बन्ध में वेबस्टर का अनुसरण नहीं किया गया है। इन नामों के भारतीय रूप 'सुकरात' और 'अरस्तु' बहुत समय से चले आ रहे हैं। दर्शन-विचार-समिति ने समुचित विचार-विमर्श के पश्चात् इन्हीं रूपों को स्वीकार किया है।

दर्शन-परिभाषा-कोश के सम्पादक श्री गोवर्धन भट्ट के इस वक्तव्य को पढ़कर किसी के भी मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो लोग 'भारत' को 'इंडिया' बोलते-लिखते रहे हैं; उन्होंने क्या कभी इस बात की परवाह की है कि भारत के लोग इस 'भारत' के नाम का उच्चारण किस तरह से करते हैं? यदि नहीं; तो फिर भारत-सरकार का यह वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग इस सम्बन्ध में अकारण चिन्ता से क्यों सूखा जा रहा है? स्पष्ट है कि निज-भाषा की मौलिक

उच्चारण-व्यवस्था और रूप -- दोनों के संरक्षण के लिए जिस स्वत्वपूर्ण-विवेक की आवश्यकता होती है, वह यहाँ पर सिरे से अनुपस्थित रहा है।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'ब्रजभाषा' में लिखा है कि छह सौ वर्षों की दीर्घावधि के शासकीय बल और साहचर्य के बाद भी ब्रजभाषा में फारसी शब्दों का अनुपात कठिनाई से मात्र एक प्रतिशत के बराबर है। (पृ. 30) इससे ब्रजभाषा की भाषिक जागरूकता को समझा जा सकता है। जबकि दूसरी ओर; कम्पनी सरकार द्वारा अंग्रेजी-शिक्षा के प्रचार के लिए 7 मार्च सन् 1835 में पास किए गए प्रस्ताव को अभी मुश्किल से मात्र 180 वर्ष ही बीते हैं किन्तु हमारी हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय-भाषाओं में अंग्रेजी का हस्तक्षेप कितने प्रतिशत है? किसी को बताने की आवश्यकता नहीं है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. चिन्तामणि, भाग-3, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. ब्रजभाषा, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा
4. हिन्दी भाषा का इतिहास, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा
5. हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन
6. सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, डॉ. शिवप्रसाद सिंह
7. विद्यापति, डॉ. शिवप्रसाद सिंह
8. दक्खिनी का पद्य और गद्य, श्रीराम शर्मा
9. भारतीय भाषा-विज्ञान, किशोरीदास बाजपेयी
10. मथुरा जिले की बोली, डॉ. चन्द्रभान रावत
11. उर्दू साहित्य का इतिहास, डॉ. एजाज हुसैन
12. भाषा और समाज, डॉ. रामविलास शर्मा
13. मध्यकालीन हिन्दी काव्य-भाषा, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी
14. निराला-रचनावली, खण्ड-5, संपादक : डॉ. नन्दकिशोर नवल
15. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ, संपादक : डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा।
16. सिंधी-भाषा का संक्षिप्त परिचय, कृष्णचन्द्र जैतली।
17. स्वामी बिहारिनदास की वाणी, संपादक : डॉ. कृष्णचन्द्र गोस्वामी
18. भारत के प्राचीन भाषा-परिवार और हिन्दी, भाग-1, डॉ. रामविलास शर्मा
19. दर्शन-परिभाषा-कोश, सम्पादक : श्री गोवर्धन भट्ट, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, भारत-सरकार, नई दिल्ली।

भाषा, मीडिया एवं समाज-संस्कृति का यथार्थ—हिन्दी बदलता परिवेश

अनिल कुमार पांडेय*

सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि आज जिन्हें भाषा का वास्तविक अर्थ भी नहीं पता है, वे भी उसके राष्ट्रीयकरण के लिए झंडेबाजी पर उतर आए हैं। झंडेबाजी कभी भी किसी भी दृष्टि से जन-समाज के लिए हितकर नहीं हुई। सामाजिक विद्वेष की कितनी ही खाइयाँ आज इन्हीं भाषायी मनमुटाव को लेकर तैयार कर दी गई हैं, सीधे और सरल शब्दों के माध्यम से कहा जाना बहुत कठिन है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि अभी तक भाषा के सामाजिक सन्दर्भ को बहुत कम लोगों ने समझा और अभिव्यक्त किया है। पता नहीं क्यों यह अभाव रह-रहकर खटकता है कि जितनी पैरवी लोगों ने भाषा के विकास के लिए किया और आज भी कर रहे हैं, जबकि भाषाएँ पारिवेशिक विशेषता के अनुसार अपने स्वभावानुकूल परिवर्तित होती रहती हैं और स्वयं में नए आयाम प्रतिष्ठापित करती रहती हैं, की उतनी सिफारिश और पैरवी सामाजिक मानसिकता को बदलने के लिए क्यों नहीं की?

जड़ स्थायी हो चुके परिवेश में अभी कुछ ही दिन हुआ डॉ. गुरमीत सिंह की एक पुस्तक आई है "हिन्दी बदलता परिवेश"। आज के इस 'बदलते भाषायी परिवेश' में यह इस समय की पहली ऐसी पुस्तक है, जो 'हिन्दी का पक्ष', 'मीडिया का सच' और 'लोक की ताकत' तीन महत्त्वपूर्ण सामयिक सामाजिक विमर्शों के माध्यम से अपने सम्पूर्ण अर्थों में भाषायी एवं सामाजिक संस्कारों में समन्यव स्थापित करने के लिए जूझती और एक हद तक लोगों की मानसिकता को पढ़ती-पढ़ाती प्रतीत हो रही है। लेखक ने 'हमारी हिन्दी', 'हिन्दी का आकाश', 'हिन्दी का झंडा', 'हिन्दी चालू आहे', 'हिन्दी प्रेम व कम्प्यूटर', 'दिल में हिन्दी-हिन्दी में दिल', 'मेरी हिन्दी सबकी हिन्दी', जैसे

अनिल कुमार पांडेय : हिन्दी-विभाग, पंजाब विवि, विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ मो. : 8528833317

अन्य कई महत्त्वपूर्ण भाषायी लेखों के जरिए भाषा के सामाजिक व्यवहार पर अपनी बात रखा है। लेखक कोई भी हो, जब तक वह भाषा के साथ-साथ समाज और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध को व्याख्यायित करने का प्रयत्न नहीं करेगा, भाषा-सम्बन्धी उसके सभी प्रयत्न नीरस और खोखले साबित होंगे। नीरसता और खोखलेपन के वातावरण में निराशा और अवसाद का प्रादुर्भाव होता है। भाषा की दशा-दुर्दशा को लेकर हाय-तौबा मचानेवाले आज जितने भी नारेबाज लेखक, पाठक और सामाजिक आन्दोलनकर्ता हैं, वे कहीं-न-कहीं निराशा और अवसाद के ही शिकार हैं। निराशा और अवसाद के क्षणों में व्यक्ति अपने परिवेश से तो कटा होता ही है, एक हद तक समाज से भी विलग रहता है। यहाँ यह प्रयास होना चाहिए कि ऐसे लोगों का समाज के अन्य सदस्यों के साथ संवाद स्थापित हो सके, क्योंकि "भाषा हो या समाज उसकी बुनियाद आपस में लोगों को जोड़ने की है, न कि तोड़ने की। हिन्दी भाषी हम लोग जब किसी अहिन्दी भाषी को हिन्दी बोलते देखते हैं तो उसे प्रोत्साहित करने के बजाय जाने-अनजाने अक्सर उसके उच्चारण का मखौल उड़ाकर उसका दिल तोड़ने का काम करते हैं।" यह दिल तोड़ने की स्थिति के कारण ही कई बार व्यक्ति भाषाओं को व्यवहार में लाने से शर्म करता है। कई बार भाषा-ज्ञानी उच्चारण को लेकर दूसरे की कमजोरी पर उँगली उठाते हुए वाद-विवाद भी कर लेता है, जबकि भाषा में विवाद की स्थिति पर लेखक अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहता है—"भाषा का मुख्य काम ही संवाद होता है और संवाद से लोग आपस में जुड़ते हैं, एक-दूसरे के नजदीक आते हैं। लेकिन अपने यहाँ उल्टा हुआ; भाषा के आधार पर लोग बँटते गए, दूर होते गए।" भाषायी कट्टरता को लेकर हर समय उलझनों को बढ़ाने वाले शुभचिन्तकों के शिकार होने की ऐसी स्थिति में विवाद को तो जन्म दिया जा सकता है, लेकिन संवाद को नहीं।

भाषाएँ कोई भी हों, वे अपने साकार रूप में तभी विकसित हो सकती हैं, जब उनके साथ चलनेवाली अन्य भाषाएँ या बोलियाँ उस समय के परिवेश द्वारा अपनाई जाएँगी। उनका प्रयोग अपने व्यावहारिक जीवन में किया जाएगा। यह कम विडम्बना की बात नहीं है कि हिन्दी के प्रति तो हम ईमानदार होने की पूरी कोशिश में लगे रहते हैं, लेकिन अन्य भाषाओं के प्रति हम उदासीन रहते हैं, वह भी उन भाषाओं के प्रति, जो हमारी अपनी हैं, बाहरी नहीं। दरअसल, दूसरे को न देखने की प्रक्रिया में दोषी तो हम ही हुए, जबकि सच्चाई जानने का प्रयत्न किया जाए तो "हम लोगों में से बहुत से लोग लम्बे समय तक ये मानकर चलते रहे हैं, हिन्दी की सारी समस्याओं के जड़ में अंग्रेजी का प्रभुत्व या अंग्रेजियत की मानसिकता है। अब तो अंग्रेजी की लाइन को मिटाकर छोटा करने के बजाय हिन्दी की लाइन को उससे बड़ी करके ही आगे निकलना होगा। यह काम तब तक नहीं होगा, जब तक हम क्षेत्रीय भाषाओं को गले नहीं लगाते। हमें यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि हम गैर-हिन्दी भाषियों का विश्वास जीतने में विफल रहे हैं।" यह विफलता कहीं-न-कहीं हमारे अन्दर विद्यमान संवाद-व्यवस्था की

विफलता है। इस विफलता के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें भाषायी कारण सबसे प्रमुख रहा है। एक सच यह भी है कि अन्य भाषाओं के जानकार भी हिन्दी भाषी जनता को हिकारत भरी दृष्टि से देखते हैं। हालाँकि "अंग्रेजीपरस्त लोगों द्वारा हिन्दी-प्रेमियों को पिछड़ा समझे जाने की प्रवृत्ति में नया कुछ नहीं है।" लेकिन फिर भी नए-नए तरीके उन्हें बदनाम करने के लिए ईजाद तो किए ही जाते रहे हैं। यह इसलिए भी हो सकता है, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने चार कदम आगे बढ़कर अंग्रेजी को विकसित किया है, जबकि "यह एक कड़वी सच्चाई है कि अपने हिन्दी समाज की छवि अरसे से तकनीक विरोधी या पुरातन पन्थी रही है। इसके लिए हिन्दी विरोधियों के प्रचार के साथ-साथ किसी सीमा तक हम खुद भी जिम्मेदार हैं", क्योंकि कई प्रकार की तकनीकियों का सहारा लेकर चलने की बजाय हम हर समय उससे बचकर निकलने का रास्ता खोजते रहे हैं। हम आज भी मोबाइल और कम्प्यूटर के प्रयोग से हिचकिचाते हैं और लगभग यह मानकर चलते हैं कि इसे अपनाने से पीढ़ी बर्बाद हो रही है, जबकि लेखक का स्पष्ट कहना है कि "हिन्दी-प्रेमियों को हर हाल में कम्प्यूटर से दोस्ती करनी ही पड़ेगी। आज के युग में सूचना प्रौद्योगिकी से कटकर हम न अपना भला कर सकते हैं, न अपनी भाषा का।" कम्प्यूटर से लोगों की दोस्ती इसलिए भी अनिवार्य हो जाती है, क्योंकि समय बदलता है तो शक्तियाँ और संस्कृतियाँ दोनों बदलती हैं। आज के इस बदलाव को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता हमारे लिए नहीं बचता, इसलिए भी और इसलिए भी कि आज के संचार-माध्यमों के साथ हम गहरे रूप में जुड़ पाते हैं।

'बदलता परिवेश' के माध्यम से देखने का प्रयत्न करें तो यह तो निश्चित है कि जितनी तल्लीनता से हम भाषा को सुरक्षित रखने के उपक्रम में स्वयं को व्यस्त रखे हुए हैं, भाषा कहीं-न-कहीं उतनी ही तीव्रता से मृतप्राय हो रही है। हिन्दी की समृद्धि उसके परिक्षेत्र में निवास करनेवाले जन की समृद्धि है। जन की समृद्धि तभी सम्भव है, जब उसके पास अधुनातन हथियार से लैस भाषा हो। भाषा, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उसके लिए भाषायी समन्वय आवश्यक है। अंग्रेजी भाषा के व्यवहार और उसके प्रयोग करने से उत्पन्न होने वाली भाषायी कटुता पर लेखक का तो स्पष्ट मानना है कि "चाहे प्रिंट मीडिया हो या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया—दोनों में ही हिन्दी के आगे अंग्रेजी दूर-दूर तक नहीं है। हिन्दी जाननेवालों का न्यू मीडिया में भी हिन्दी का दखल तेजी से बढ़ रहा है। फिर भी बहुत से हिन्दी-प्रेमी ही मीडिया पर भाषा को बिगाड़ने या हिन्दी का नुकसान करने का आरोप लगाने में हिचकते नहीं हैं। मुझे कई बार लगता है कि असल में एसएमएस भाषा या नई प्रौद्योगिकी में सबसे ज्यादा तो अंग्रेजी भाषा बिगड़ रही है, पर अंग्रेजी भाषी ऐसे आक्रान्त नहीं दिखते, जैसे हम लोग।"

हममें से बहुत से लोगों ने, जो भाषायी शुद्धता के पक्षधर हैं, हिन्दी के बढ़ते कदम को अवरुद्ध करने का बड़ा संकीर्ण कार्य किया है। आज जिस भाषा को मीडिया और फिल्मों में तरजीह दी जा रही है, और जिसे लोग बराबर कोसते आ रहे हैं, यह

उसी भाषा का परिणाम है कि संसार अन्य अनेक स्थानों पर, जहाँ न तो हिन्दी के झंडेबाज हैं और न ही सरकारी मशीनरियाँ, हिन्दी ने उन परिवेशों में अपनी जगह तलाशने और समृद्ध करने में महारत हासिल की है। यह लेखक का भी दो टूक मानना है कि "यदि हिन्दी के झंडे को बुलन्द करने का श्रेय किसी को दिया जाना चाहिए तो वे हिन्दी फिल्में, हिन्दी मीडिया ही हैं।"

भाषायी समन्वय के जिस कार्य को साकार करना विद्वानों के लिए आज सबसे अधिक कठिन प्रतीत हो रहा है। लेखक ने उसे बड़ी ही शालीनता से छोटे-छोटे उद्धरणों, गीतों, मुहावरों एवं अनायास प्रवाहित होती संवादात्मक भाषा के जरिए हमें समझाने और संस्कारित करने का बड़ा उद्योग किया है। समन्वय के धरातल पर एक सच्चाई वह ये भी स्वीकार करता है और लगभग इसी बहाने सचेत भी करना चाहता है युवा पीढ़ी को, जो बराबर भाषायी अस्मिता के नाम पर बलि की वेदी पर बिठाए जा रहे हैं, वह सच्चाई ये है कि "भाषाएँ तो सदैव परस्परता में विकसित होती आई हैं, उनमें विरोध का तो प्रश्न ही नहीं होना चाहिए। हिन्दी का तो भारतीय भाषाओं के साथ विरोध कभी था ही नहीं, बल्कि राजनीति ने ही उनके बीच लाइन खींचने का काम किया है।" यह काम सत्ता-लोलुपता, वोटगत राजनीति और इन सबके बीच सस्ती लोकप्रियता बटोरने की भूख मात्र है और कुछ भी नहीं।

लेखक भाषायी कटुता और संकीर्णता को समाप्त करके समन्वयपूर्ण संस्कृति की प्रतिष्ठापना को लेकर जितना सजग है, सामाजिक समस्याओं एवं विसंगतियों को लेकर उससे कहीं ज्यादा व्यथित है। उसकी व्यथा का सामाजिक होना इसलिए भी उचित है, क्योंकि अपने जीवन का लम्बा समय उसने लोक और समाज में रहते हुए एक पत्रकार के रूप में गुजारा है। 'विश्वसनीयता का सवाल', 'पीपली लाइव के बाद' 'सँभलने का वक्त', 'ऐसी दीवानगी', 'खुद कीजिए सच का सामना', 'नियम बनाम नैतिकता', 'कानून पर बहस आदि और कई अन्य लेख लेखक के जीवन-सन्दर्भ के यथार्थ को दर्शाते हैं। यथार्थतः कहा जाए तो पत्रकार और पत्रकारिता के दाव-पेंच में भिड़ते-भिड़ाते हुए उसने सामाजिक जरूरतों को महसूस किया है। मीडिया की संगतियों और विसंगतियों से प्रत्यक्षतः मुखातिब हुआ है। मीडियाकर्मी के रूप में समाज द्वारा मीडिया पर लगाए जा रहे उन तमाम आरोपों को उसने सहा भी है, जिसके घेरे में लाख बचने के बावजूद पत्रकारों को आना पड़ता है और उनसे दो-चार भी होता रहा है, जिनके सन्दर्भ में उसे बराबर कठघरे में खड़ा किया जाता रहा है। यह तो वह मानता है कि इस लगभग परिवर्तित होते मूल्य-बोध के साथ "आज समाज में पत्रकार किसी लुटे-पिटे या आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि हर दृष्टि से सक्षम वर्ग के रूप में उभर चुके हैं, जिनसे कई अन्य वर्ग रश्क भी रखते हैं।" बावजूद इसके वह यह भी मानता है कि पत्रकार को अपने दायित्वों का निर्वहन ठीक और ईमानदारीपूर्ण तरीके से करते रहना चाहिए, क्योंकि

"आमजन का जुड़ाव व विश्वास हमेशा से ही शासन-व्यवस्था के अन्य अंगों से ज्यादा पत्रकारिता पर रहा है। यदि किसी इलाके में बिजली भी चली जाए तो वहाँ के लोग बिजली दफ्तर के बजाय अखबार के दफ्तर में फोन करते हैं। आमजन का यही जुड़ाव तो पत्रकारिता की सबसे बड़ी ताकत है और इसी के कारण ही तो शासन-व्यवस्था के बाकी अंग भी पत्रकारिता को हाशिए पर धकेलने में देर नहीं करेंगे। इसीलिए आमजन के विश्वास को टूटने देना पत्रकारिता के लिए आत्मघाती कदम होगा।"

यह भी निश्चित है कि ऐसे कई दौर आए होंगे, जब एक सामाजिक व्यक्ति होने के नाते और एक जिम्मेदार स्तम्भकार की भूमिका में रहते हुए मीडिया की ज्यादतियों से रूबरू होने के अवसर उसे मिले हों और क्योंकि सामाजिकता का एक पहलू स्वच्छन्द प्रवृत्ति के बढ़ते प्रभाव को सीमित करते हुए सामाजिक बोध से जुड़ने के लिए उसका परिष्कार करना भी होता है, मीडिया की बढ़ती निरंकुशता लेखक को खली हो, इसलिए वह सामाजिक नीतियों के दायरे में ही मीडिया को रहने के लिए सचेत भी करता है और जागरूक भी। यह बात कहीं गहरे यथार्थ के साथ लेखकीय सरोकार में वर्तमान है कि मीडिया अपनी हदों तक ही रहे। उसके लिए मानव-मूल्य के साथ-साथ राष्ट्रीयदायित्व भी बहुत मायने रखते हैं, इसलिए मीडिया को भी कानून के दायरे में लाने के लिए प्रावधान हो; ऐसा तर्क लेखक का है। उसका स्पष्ट मानना है कि "एक स्वस्थ और मजबूत लोकतन्त्र के लिए उतना ही मजबूत और स्वतन्त्र मीडिया भी होना बहुत जरूरी है। लोकतन्त्र और मीडिया की मजबूती सीधे-सीधे जुड़ी हुई है। अगर हम मीडिया की स्वतन्त्रता पर हमला करते हैं तो उसे लोकतन्त्र पर ही हमले के रूप में देखा जाना चाहिए। लेकिन क्या लोकतन्त्र के बाकी तीन स्तम्भों की ही तरह चौथे स्तम्भ यानी मीडिया की जिम्मेदारी भी उसी लोक के प्रति नहीं है? क्या बाकी तीन स्तम्भों को आईना दिखानेवाले मीडिया के पास अपने लिए कोई आईना नहीं होना चाहिए? क्या यह सही नहीं है कि देश में तीन सौ चैनलों के साथ तेजी से फैले इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए आज तक देश में कोई प्रसारण कानून नहीं बन पाया है? क्या यह सही नहीं है कि मुम्बई के ताज होटल पर हमले के बाद इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए आचार संहिता की सख्त जरूरत महसूस की गई थी?" निश्चित तौर पर कोई भी शक्ति जब समाज और सामाजिक हित से बड़ी हो जाती है तो वह सम्पूर्ण परिवेश के लिए खतरनाक साबित हो जाती है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने कई बार ऐसा साहस किया है, जब उसके कारण से सम्पूर्ण परिवेश अँधेरे में खोते-खोते बचा है। ऐसा इसलिए भी, क्योंकि दृश्य माध्यम हृदय पर सीधा प्रहार करते हैं और उसके इस प्रहार का परिणाम है कि समाज न चाहते हुए भी गहरे शोक और बड़े डर में जीने के लिए मजबूर हुआ है। युद्ध-जैसी भयावह स्थितियों को लाइव करने की जरूरत तो शायद नहीं होनी चाहिए। समाज में बावजूद इसके "कारगिल युद्ध के समय जैसे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने युद्ध को पहली बार हमारे घरों तक पहुँचा दिया था, उसी तरह अब मुम्बई के हमले के वक्त आतंक की तस्वीरें हमारे

देश के घर-घर में पहुँची हैं।...देश पर अब तक के इस सबसे बड़े आतंकी हमले को लगातार 60 घंटों तक घर-घर पहुँचाने वाले टीवी चैनलों के लिए भी यह किसी रियलिटी शो नहीं, बल्कि एक खतरनाक रियलिटी थी।" इस प्रकार के रियलिटी में कई बार अर्थ से अनर्थ होते देखा गया है।

मीडिया की नजर से 'लोक की ताकत' को समझने की कला तो कोई गुरमीत से सीखे। लोक में रमकर लोक की बात करना इन्हें खूब सुहाता है। यह इस पुस्तक का सबसे उजला पक्ष है, जिसे बड़े न्यायप्रिय तरीके से लेखक ने जिया है। उनकी लेखकीय दृष्टि से बात करने का प्रयास करें तो यह वही लोक है, जहाँ भ्रूण हत्याएँ होती हैं, जहाँ राजनीतिक षड्यन्त्र में जनता फँसाई जाती है, जहाँ छोटी-छोटी रस्में विवादित रूप धारण करके व्यक्ति की मानसिकता को संकीर्ण बना देती हैं। यह वही लोक है, जहाँ एक ही पल में कोई बड़े नायक की पदवी से विभूषित हो जाता है तो कोई अपने बनी-बनाई साख को भी गँवा देता है। लेखक ने 'लोक की ताकत' को 'नई रीति, नया सन्देश', 'पहनावा और चरित्र', 'बड़े लोगों की छोटी बातें', 'जीने का हक', 'हक और त्याग', 'जीवन में विश्वास', 'चक दे हरियाणा' के साथ कई अन्य स्वतन्त्र और प्रेरक लेखों के जरिए देखने, समझने और उनका स्वतन्त्र मूल्यांकन करने की कोशिश की है।

लोक सही अर्थों में सामाजिक रूढ़ियों को आत्मसात करने और उसे पालने-पोषने वाले प्लेटफॉर्म के रूप में आज भी जाना जाता है। इक्कीसवीं सदी में पहुँचने के बावजूद मध्यकालीन रीतियाँ अपनी जड़ें मजबूत करके रखी हैं। यहाँ के निवासियों में कहीं-न-कहीं अब भी अपने पारम्परिक मूल्य पूज्य हैं। उनके खिलाफ आवाज उठाने वाले उनकी नजर में या तो मूर्ख होते हैं या फिर बदचलन अथवा आवारा। बदचलन और आवारा की संज्ञा से नई सोच को लेकर आगे बढ़नेवाली लड़कियों को बड़ी जल्दी विभूषित कर देने की परम्परा आज भी भारतीय परिवेश में यथार्थ है, जो 'लोक की ताकत' न होकर कमजोरी अधिक है। इस कमजोरी का ताकत के रूप में फलने-फूलने की बड़ी वजह लेखक शिक्षा के अभाव को कम और प्रगतिशील सोच के अभाव को अधिक मानता है। उसके अनुसार "प्रगतिशील विचार और साहस के लिए ज्यादा पढ़ा-लिखा होना ही जरूरी नहीं है।...शिक्षा चीजों को समझने में आपकी मदद तो कर सकती है, लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात आपके अन्दर की सोच है। अगर वह नहीं बदलती तो शिक्षा का भी कोई मतलब नहीं है। दुर्भाग्य से हमारी शिक्षा-प्रणाली पढ़े-लिखों की फौज तो पैदा कर रही है, लेकिन उनमें बदलाव की आग जलाने में विफल रही है। वह बदलाव की आग जो अपने छोटे-छोटे गाँवों में भी जलती नजर आ जाती है और एक नई उम्मीद बँधाती रहती है। वह आग हमारे स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में क्यों नहीं जलती? यह बहुत बड़ी चिन्ता का विषय है।"

लोक में प्रगतिशीलता की बजाय पारम्परिकता इस कदर हावी है कि हम पहनावे से कई बार चरित्र का आकलन भी करने लगते हैं और कई बार संस्कृति की दुहाई देते हुए यह तुगलकी फरमान भी जारी करते हुए पाए जाते हैं कि अमुक स्त्री को अमुक तरीके का कपड़ा नहीं पहनना चाहिए। लेखक के मतों पर विचार किया जाए तो वह इस प्रकार की सोच के खिलाफ है। वह कहता है "ये ठीक है कि कुछ परिधान ऐसे होते हैं, जिनका सम्बन्ध हमारी संस्कृति या परम्परा से रहा है या कुछ परिधानों को विशेष अवसरों पर पहनने की रवायत रही है, लेकिन दैनिक या रोजमर्रा के जीवन में परिधानों के चयन का आधार ये नहीं हो सकता और वहाँ सुविधा और व्यक्तिगत पसन्द ही निर्णायक आधार हो सकती है। उस पर नुक्ताचीनी करना और वो भी लिंग के आधार पर, कतई जायज नहीं ठहराया जा सकता।" लेकिन समाज के कुछ विशेष नियम और कायदे होते हैं। स्त्री हो या पुरुष उस नियम-विशेष के साथ बँधकर चलना सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक मर्यादा के लिए हितकर होता है। कई बार अधिक स्वतन्त्रता के आकांक्षी नंगे होकर भी रहना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि मर्यादाएँ टूटें और वे जंगलराज का फायदा उठा सकें। यह भावना न तो वैयक्तिक निजता की दृष्टि से ठीक है और न ही तो सामाजिकता की दृष्टि से उचित। हाँ, लेखक की इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि "यह कहना बहुत ही मूर्खतापूर्ण होगा कि महिलाओं या लड़कियों के कपड़े पुरुषों को बलात्कार करने के लिए उकसाते हैं। असल में तो उनकी सोच और अपराधी प्रवृत्ति ही इसके लिए जिम्मेदार है।" लेकिन साथ ही यह भी कह देना जरूरी है कि बलात्कार आदि के लिए मात्र पुरुष की कुंठाएँ या मानसिक, आपराधिक प्रवृत्ति ही दोषी नहीं है, महिलाएँ भी कहीं-न-कहीं बराबर की दोषी जरूर हैं।

इन दिनों समय में लोक समझदार तो हुआ है, अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों को लेकर जागरूक भी हुआ है। वह आशा करने के बजाय अब स्व-इच्छा से प्रेरित होकर प्राप्त करने के लिए उद्यत भी हुआ है; इनकार इस बात से भी बिल्कुल नहीं किया जा सकता। ऐसा नहीं है कि इतने बड़े परिवर्तन स्वयमेव हो गए। इन दिनों के परिवेश में घटी कई सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं ने लोक को इस परिवर्तन के लिए तैयार भी किया है। मीडिया और टेलीविजन ने जन-सामान्य को परिवर्तन के लिए तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। देश-समाज में बढ़ रही समस्याओं से अवगत होने में जनता ने अपनी अभिरुचि दिखाना शुरू कर दिया है तो इसके पीछे भी कहीं-न-कहीं मीडिया का ही हाथ है। राजनीतिक एवं प्रशासनिक महकमे तो पहले से ही अपनी ज्यादतियों एवं बदनाम छवि के कारण चर्चा में रहे हैं, लेकिन इन दिनों देश के हालात ऐसे रहे कि जनता के सामने अप्रत्याशित रूप से कई घोटाले-दर-घोटाले सामने आए। 'लोक की ताकत' में अन्ना हजारे के सन्दर्भ में बोलते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि "हमारे राजनीतिक व प्रशासनिक तन्त्र में संवेदनहीनता और सिद्धान्तहीनता भी है, लेकिन देश का जनमानस

सबसे ज्यादा आक्रान्त इस तन्त्र में सर्वव्यापी भ्रष्टाचार को लेकर रहा है।" आक्रान्त जनता की मानसिक स्थिति का जायजा डॉ. गुरमीत सिंह ने खूब लिया है। लोक के प्रति लेखक का यह विश्वास कहीं गहरा बना हुआ है कि जागरूकता और प्राप्ति की इस स्थिति को वह आनेवाले दिनों में भी बनाकर चलने के साथ-साथ उसे और भी समृद्ध करता रहेगा।

सम्पूर्ण पुस्तक में लेखक का नजरिया समन्वयपूर्ण संस्कृति को हर हाल में बनाए रखने का रहा है। बात चाहे भाषा की हो, समाज की हो या फिर हो लोक-संस्कृति की, यह कोशिश उसके लेखकीय व्यवहार में बराबर बनी रही है कि सात्त्विक और सद्भावपूर्ण तरीके से अपनी-अपनी भूमिका निभाते रहें। वह नहीं चाहता कि किसी प्रकार की अति समाज-संस्कृति का हिस्सा बनकर रहे। मनुष्य की मनुष्यता तभी अपनी सार्थकता को अभिव्यक्ति कर सकेगी, यदि उसमें अतिवाद के लिए कोई स्पेस नहीं होगा। दुर्भाग्य से कुछ संस्कृतियाँ अब भी समाज में यथार्थ हैं, जिनकी वजह से सम्पूर्ण मानवीयता तार-तार होती रहती है। युद्ध की संस्कृति उनमें से एक है। 'कारगिल युद्ध की स्मृति में' लेखक इस यथार्थ सामाजिक-संस्कृति से जुड़ी युद्ध संस्कृति का बड़ा दिलचस्प नजारा पेश करता है। इस नजारे में जहाँ एक तरफ पत्रकार-जीवन का यथार्थ लेखक जैसे प्रत्यक्ष रिपोर्टर की जिन्दादिली पर सोचने के लिए विवश करता है तो सैनिकों के जीवन का यथार्थ बहुत गहरे में हृदय को वेदना से सराबोर कर जाता है। वहाँ रहनेवाली जनता की क्या स्थिति होती होगी, युद्ध से सम्बन्धित स्थानों पर, इस विषय में तो लेखक स्मृति के साथ चलते हुए कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तक भाषा, मीडिया और समाज-संस्कृति का सुन्दर और यथार्थ परिदृश्य उकेरती है। हालाँकि कई लेखों में विषयों का दोहराव स्पष्ट नजर आता है, जिसे कम करने या सम्पादित किए जाने का कार्य किया जा सकता था। भाषा संवादात्मक होने के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन में प्रयोग की जाने वाली जनता की हिन्दी है, जिसकी सम्प्रेषण की अपनी शक्ति और विशिष्टता है। कई लोगों को पुस्तक की भाषा-सम्प्रेषण की सरलता और सहजता खटक सकती है, लेकिन यही 'हिन्दी का पक्ष', 'मीडिया का सच' और 'लोक की ताकत' है जो पाठक को बाँधकर रखती है। इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक-लेखन के लिए डॉ. गुरमीत सिंह को हृदय से बधाई देता हूँ।

केन्द्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्कः हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोनः 0562-2530684,
वेवसाइटः www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमूख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवतापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उेश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

■ शिक्षणपरक कार्यक्रमः (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवद्धनात्मक कार्यक्रम, (vi) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जंनसचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

■ अनुसंधानपरक कार्यक्रमः (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयक्त अनुसंधान,

(iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रोद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

■ शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकासः (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (iv) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशनः हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथाअध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालयः भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयः हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँः ■ भारतीय सांस्क तिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षिणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोश परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेलः kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेलः nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

1.	प्रकाशन स्थान	:	दिल्ली
2.	प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
3.	स्वामी		आस्था भारती, नई दिल्ली
4.	मुद्रक	:	डॉ. लता सिंह सचिव, आस्था भारती
	(क्या भारत के निवासी हैं?)		हाँ, भारतीय
	पता		27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096
5.	प्रकाशक	:	डॉ. लता सिंह सचिव, आस्था भारती
	(क्या भारत के निवासी हैं?)		हाँ, भारतीय
	पता		27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096
6.	सम्पादक	:	डॉ. बी. बी. कुमार सम्पादक, आस्था भारती
	(क्या भारत के निवासी हैं?)		हाँ, भारतीय
	पता		27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096

मैं डॉ. लता सिंह घोाित करती हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. लता सिंह

जून 19, 2018 प्रकाशक